आचार्य उत्पलदेव रचित-शिवस्तोत्रों का साहित्यिक एवं दार्शनिक अध्ययन

A Literary and philosphical study of utpaladevas Shivstoras

इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी. फिल् उपाधि के लिये प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध (डी. फिल्)

प्रस्तोता

मिथिलेश कुमार एम. ए.

निर्देशक

प्रो. डा. आद्या प्रसाद मिश्र

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,

डीन कला संकाय

इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

संस्कृत विभाग

इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद

सितम्बर –१९७८

कदा कमलदृशि -

सम्भोगास्वादनोत्सुकम् ।

प्रयातीव विहायान्यन्

मम त्वत्स्पर्शिनि मनः ॥

विक्रमो ६।१

उपोद्घात

एम० ए० (संस्कृत) में प्रवेश लेने के अनन्तर मेरे अन्तःकरण में शोध कार्य करने की बलवती इच्छा जागृत हुयी। परिणामस्वरूप एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने के बाद मुझे पितृकल्प गुरुवर्य प्रो० डा० रामप्रसाद मिश्र जी ने आचार्य उत्पलदेव रचित, शिवस्तोत्रों का साहित्यिक एवं दार्शनिक अध्ययन, विषय पर शोध कार्य करने का निर्देश दिया, जिसे मैंने कृतसंकल्प होकर पूर्ण करने में अपनी सारी शक्ति लगा दी।

"शिवस्तोत्रावलि, और उत्पलदेव के शिवस्तोत्र ,,

शिवस्तोत्रावलि के प्रथम स्तोत्र की टीका के आरम्भ में ही आचार्य क्षेमराज ने लिखा है कि आचार्य उत्पलदेव ने संग्रहस्तोत्र, जयस्तोत्र, भक्तिस्तोत्र, और अनेकों मुक्तक श्लोकों की रचना की थी। पश्चात् रामकण्ठ और आदित्यराज ने उस मिले जुले स्तोत्र वाङ्मय को पाकर उन मुक्तक श्लोकों का भिन्न भिन्न वर्गों में वर्गीकरण किया। तदनन्तर श्री विश्वावर्त ने उन श्लोक वर्गों के नाम अपनी कल्पना के आधारपर रख दिये और उन्हें बीस स्तोत्रों के वर्तमान क्रम में रखकर सारे वाङ्मय का नाम शिवस्तोत्रावलि रख दिया।

इस प्रकार आचार्य उत्पलदेव के स्तोत्रों का संग्रह ही है, जिसे विश्वावर्त ने शिवस्तोत्रावलि, यह नाम रख दिया, नाम की कल्पना तो विश्वावर्त की है। उत्पलदेव के तो स्तोत्र ही हैं। यह उनके स्तोत्रों का पूरा संग्रह है। इन स्तोत्रों के अतिरिक्त उनके अन्य कोई भी स्तोत्र इस युग में नहीं मिल रहे हैं। सम्भव है कि आचार्य उत्पलदेवकृत कुछ और भी शिवस्तोत्र रहे हों किन्तु वर्तमान काल में उनके अलभ्य होने से उत्पलकृत शिवस्तोत्रों के अध्ययन का तात्पर्य इसी उपर्युक्त शिवस्तोत्रावलि के अध्ययन से है।

विश्वावर्त मंख कवि के पिता थे। मंख का समय ग्यारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और बारहवीं का आरम्भ है। अतः विश्वावर्त ने १०५० के लगभग

इन स्तोत्रों को वर्तमान क्रम में रखकर इनका नामकरण और सम्पूर्ण संग्रह का नामकरण किया होगा और क्षेमराज ने उसके अनन्तर ही टीका लिखी होगी। अभिनवगुप्त ने विवृति विमर्शिनी का समय १०१४ दिया है। तदनुसार इनका समय १०२५ या १०३० तक माना जा सकता है। उक्त रचना उनकी अन्तिम रचनाओं में से है। अतः क्षेमराज का लेखन काल उनके बाद का ही हो सकता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य उत्पलदेव के शिवस्तोत्रों का प्रसिद्ध नाम यही है, जो विश्वावर्त ने इन्हें दिया। अतः वर्तमान प्रबन्ध में इनका उल्लेख (शिवस्तोत्रावलि) इसी नाम से किया जा रहा है।

शिवस्तोत्रावलि में संगृहीत स्तोत्रों का गम्भीर अध्ययन करते समय यह स्पष्ट हो गया कि इनमें साहित्य तत्व की अपेक्षा दर्शन तत्व अधिक आकर्षक है। इस कारण प्रबन्ध में पहले उसी की विवेचना की गयी है, यद्यपि, इस विषय में शोधकार्य का संकल्प करते समय प्राथमिकता साहित्य तत्व को ही देने का विचार था।

आचार्य उत्पलदेव काश्मीरी शैव थे। अतः इनके स्तोत्रों में काश्मीर शैव दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का सुन्दर एवं सुस्पष्ट विवेचन प्राप्त होता है। यही प्रकार कारण है काश्मीर शैव दर्शन के सिद्धान्तों के आधार पर ही प्रस्तुत प्रबन्ध में शिवस्तो० में उल्लिखित स्वातन्त्र्य सिद्धान्त स्पन्द, सिद्धान्त, सृष्टि, संहार, बन्धन, मोक्षादि प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन प्रस्तुत कीया गया है।

प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के प्रणयन में डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित के काश्मीर शैवदर्शन काश्मीर शैविज्म, एवं महामहोपाध्याय गोपीनाथ

कविराज जी की भारतीय संस्कृति और सिद्धान्त , आस्पेक्ट आफ इण्डियन थाट, (   ) इन पुस्तकों से काश्मीर शैव दर्शन के भिन्न सिद्धान्तों से अवगत होने में मुझे विशेष सहायता मिली। अतः इन विद्वानों के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूं।

शोध कार्य का सम्पादन मेरे व्यक्तिगत जीवन की विविध विषम कठिनाइयों का काल था। इस बीच न जाने कितनी बार मैं कर्तव्य पथ से विचलित हुआ किन्तु कर मा. कृपालु गुरुवर्य ने अपने विद्वतापूर्ण सत्परामर्शों एवं प्रेरणा से मुझे कर्तव्य पथ पर स्थिर रखा, जिसके फलस्वरूप यह कार्य पूर्ण हो सका। अतः उनकी कृपा के लिये मैं उनका आजन्म ऋणी रहूंगा। प्रेरणा स्रोतों में मैं डा० विश्वम्भर सिंह अध्यक्ष लोक सेवा आयोग उ० प्र० का चिर ऋणी रहूंगा जिन्होंने आजन्म अपनी सत्प्रेरणाओं से मैं इस प्रबन्ध को एक निश्चित समय में पूर्ण कर सका। इसी सन्दर्भ में डा० कृष्णकान्त त्रिपाठी डी० लिट् एवं गुरुवर्य डा० सुरेशचन्द्र पाण्डेय के प्रति हृदय से कृतज्ञ हूं, जिन्होंने अपना अमूल्य देकर मेरे इस दुर्गम कार्य को सुगम साध्य बनाने में सहयोग किया।

मित्रता के धरातल में प्राकृतत्व श्री [illegible] चन्द्र एवं प्रदीप कुमार वर्मा जी का नाम उल्लेखनीय है, जिन्होंने मुझे सदैव इस कार्य को सम्पन्न करने में उत्साहित किया।

श्री शिवाप्रसाद शुक्ल जी एवं श्री हरश्याम [illegible] की एकनिष्ठ निष्ठा एवं तत्परता से शोध प्रबन्ध के टंकण का कार्य शीघ्र ही सम्पन्न हो सका अतः उनका मैं हृदय से आभारी हूं।

इस ग्रन्थ का मूल्यांकन सहृदय सुधी जन ही कर सकेंगे। मेरा

यह विनम्र प्रयास कितना वस्तुपरक एवं यथार्थ हो पाया है, इसमें आप ही प्रमाण हैं। यदि उनकी सम्मति में यह कुछ भी ठीक प्रतीत हुआ, तो मैं अपने को धन्य मानूँगा।

मिथिलेशकुमार

सितम्बर १९८०

विषयानुक्रमणिका (१)

भाग - २

साहित्यिक अध्ययन

चतुर्थ अध्याय

पञ्चम अध्याय

षष्टम अध्याय

शिवस्तोत्रावलि में भाव सौन्दर्य

-----000-----

भाग - १

दार्शनिक अध्ययन

प्रथम - अध्याय

प्रथम अध्याय

विषय प्रवेश

दर्शन:-

भारत वर्ष अति प्राचीन काल से ही आध्यात्मिक चिन्तन का क्षेत्र रहा है। प्राचीन भारतीय मनीषियों के मन में हम कौन हैं ? जीवन क्या है,? इस समस्त जड़ जंगमात्मक जगत् का मूल क्या है ? इत्यादि प्रकार के प्रश्न उठते रहे हैं। और इन्हीं प्रश्नों के समाधानार्थ पारमार्थिक सत्य की खोज में वे सदैव चिन्तन की धारा में प्रवाहित होते रहे हैं। वैदिक युगीन इन ऋषियों के चिन्तन का लक्ष्य मात्र सत्य, की खोज तक ही सीमित न था अपितु उसे सत्य, साक्षात् दर्शन करना तथा उसे अनुभव में उतारना भी था। उनकी यह धारणा "चक्षुर्वैसत्यम्, इस श्रुति से प्रमाणित होता है। इस श्रुति का तात्पर्य यह नहीं है कि मनुष्य जो कुछ आँखों से देखे उसे ही सत्य माने बल्कि यहाँ पर यह श्रुति लक्षणा से अनुभव, मात्र के लिये प्रयुक्त हुयी,है। यद्यपि चिन्तन की विशद परम्परा में विभिन्न प्रकार के व्यक्तियों का समावेश होने के कारण विविधता है तथापि उन सब का एक मात्र प्रयास सत्य की खोज में ही है तभी तो भारतीय मनीषी एक सत्य के विभिन्न रूपों अथवा पक्षों के द्रष्टा होने के कारण ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः, इस श्रुति के अनुसार ऋषि नाम को चरितार्थ करते हैं। इसी बात को यास्क ने निरुक्त में साक्षात्कृत-धर्माण, ऋषयो बभूवुः कहकर स्थापित किया है।

सत्यान्वेषण में वैदिक युग का भारतवासी अपनी धारणाओं में स्थिरता शीघ्र नहीं आने देता था। चिन्तन में उसकी रुचि इतनी गहरी थी और तत्व को अपने गर्भ में छिपाये रखने वाले रहस्य के प्रति उसकी जिज्ञासा इतनी तीव्र थी कि किसी सन्तोषजनक समाधान में जब तक वह नहीं पहुँचा तब तक वह उन प्राकृतिक घटनाओं को जिन्हें वह समझना चाहता था अपने सामने खुले रूप में रखता रहा।

१- यास्क- निरुक्त - (१-२०-२)

२- ब्लूमफील्ड रिलीजन आफ वेद पृ ८२

व्युत्पत्ति की दृष्टि से दर्शन, शब्द को दृश्यतेऽनेनेति दर्शनम् (दृश् धातु + ल्युट् प्रत्यय द्वारा) इस रूप में रखा जाता है, जिसका अर्थ है- जिसके द्वारा तत्त्व का दर्शन हो वही दर्शन है। दर्शन शब्द का भाव प्रधान व्युत्पत्ति भी हो सकती है तदनुसार दृश्यते इति दर्शनम्, यथार्थज्ञानम्। अतः यथार्थ ज्ञानवान् को ऋषि कहा गया है और उनके ज्ञान को दर्शन कहा गया, उस ज्ञान को अभिव्यक्त करने वाले शब्दात्मक शास्त्रों को भी दर्शन कहा गया है दर्शन की इसी पृष्ठभूमि में प्रो० डा० आद्या प्रसाद मिश्र ने लिखा है भारतीय सांस्कृतिक परम्परा में जिसे दर्शन कहते हैं वह जीवन की प्रयोगशाला में अनुभूत किया गया सत्य है चाहे वह साध्य विषयक हो और चाहे साधन विषयक ।[1] दर्शन को इस व्यापक दृष्टिकोण से देखने पर सम्पूर्ण आर्ष साहित्य (वैदिक संहितायें, ब्राह्मण आरण्यक उपनिषदें) दर्शन की परिधि में आ जाता है और यह ठीक भी है क्यों कि वेदों का संहिता साहित्य देवता तत्त्वों का दर्शन है। उनका ब्राह्मण साहित्य यज्ञतत्त्व का दर्शन है, आरण्यक साहित्य उपासना तत्त्व का दर्शन है। तथा उपनिषद् साहित्य ज्ञान तत्त्व का दर्शन है वैसे तो आत्मा, सत् असत् इत्यादि से सम्बन्धित दार्शनिक तत्त्वों का उल्लेख ऋग्वेद में है।[2]

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥

ऋग्वेद १-१६४-२०

- -

१- डा० आद्या प्रसाद मिश्र सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ० १

सत:बन्धुमसति निरविन्दन् ।

हृदि प्रतीष्या कवयो मनीषा ।। ऋग्वेद १०-१२९-४

इन अर्थों में मिलता है किन्तु परवर्ती काल में जब दर्शन शब्द से मुख्यतया आत्म-दर्शन का ग्रहण किया जाने लगा तब आत्म ज्ञान प्रधान उपनिषदें को आत्म-दर्शन के मुख्य साधन के रूप में प्रयुक्त हुआ। प्रमाण स्वरूप छान्दोग्योपनिषद में कहा गया है कि सभी इन्द्रियों को आत्मा में प्रतिष्ठित करके मनुष्य ब्रह्मधाम में आ पहुंचता है। वहां से फिर लौटना नहीं पड़ता[1]। एक अन्य उपनिषद में भी आत्मतत्व के विषय में कहा गया है कि । जो आत्मतत्व बहुतों को सुनने के लिये प्राप्य नहीं है और सुनते हुए भी जिसको बहुत से लोग नहीं जानते उसका उपदेश करने वाला कोई विरला ही है उसको ग्रहण करने वाला भी कोई विरला ही होता है और निपुण आचार्य द्वारा उपदिष्ट ज्ञाता भी कोई विरला ही होता है ।[2]

अत: आत्मतत्व के सम्यक् ज्ञान का आधारशिला होने के कारण उपनिषदों को दर्शन का आधार स्तम्भ मानना ठीक ही है ।

भारतीय दार्शनिक चिन्तन विभिन्न कालों में विभिन्न मनीषियों के द्वारा होने के कारण वैविध्यपूर्ण है। इस वैविध्यपूर्ण विकास की गहराई में दो भिन्न धारायें स्पष्टतया दिखायी पड़ती है। जिसमें एक का आधार वेद, और दूसरी का वेदेतर है। वेदों को प्रमाण मानकर अपने २ सिद्धान्तों का प्रतिपादन ।

१- छान्दोग्य उपनिषद ८-१५-१

२- श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्य: शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्यु: ।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोस्य लब्धाश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट: ।।

करने वाले दर्शन आस्तिक तथा वेदों को प्रमाण न मानने वाले दर्शन नास्तिक दर्शन कहलाये । आस्तिक दर्शनों की कोटि में गौतम का न्याय, कणाद का वैशेषिक कपिल का सांख्य, पतंजलि का योग, जैमिनी का पूर्व मीमांसा, तथा बादरायण का उत्तर मीमांसा अथवा वेदान्त दर्शन आते हैं। इसके विपरीत नास्तिक दर्शनों की कोटि में चार्वाक, जैन तथा बौद्ध दर्शनों को रखते हैं । कभी २ आस्तिक व दर्शनों से साम्य स्थापितकरने के लिये बौद्ध दर्शन को वैभाषिक, सौत्रान्तिक, योगाचार और माध्यमिक इन चार भागों में विभक्तकरके नास्तिक दर्शनों को भी छ:मान लिया जाता है ।

कुछ विद्वान आस्तिक दर्शनों की कोटि में आने वाले सांख्य दर्शन की वैदिकता में सन्देह करते हैं अतःयहाँ पर इस सम्बन्ध में संक्षेप में विचार कर लेना अनुचित न होगा। सांख्य में प्रतिपादित अनीश्वरवाद, प्रकृति कर्तृत्ववाद, परिणामवाद आदि वेद विरुद्ध सिद्धान्तों के कारण वेदान्त भाष्यकार शंकराचार्य सांख्य दर्शन को अवैदिक दर्शन सिद्ध करने की चेष्टा करते हैं । सांख्य दर्शन अपने मूल में वैदिक ही है। क्योंकि क्या कि अत्यन्त प्राचीन काल से महाभारत, गीता, रामायण स्मृतियों तथा पुराणों में सांख्य के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है ।

गीताकार ने[१]

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।

अहङ्कार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ।। गीता ३-२७

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः
यः पश्यति तथात्मानमकर्तारं स पश्यति ।। गीता १३-। -२९

इन शब्दों मे सांख्य दर्शन का त्रिगुणात्मक सिद्धान्त स्पष्टतया परिलक्षित होता है ।

सांख्य की स्मार्त कहने वाले भगवान् शंकराचार्य को भी ब्रह्मसूत्र २।१।३ के भाष्य मे कहना पड़ा, अध्यात्म विषयक अनेक स्मृतियों के होते हुए भी सांख्य योग स्मृतियों के ही निराकरण मे प्रयत्न किया गया क्यों कि वे दोनों लोक मे परम पुरुषार्थ के साधन के रूप में प्रसिद्ध है । शिष्ट महापुरुषों द्वारा गृहीत है[1]

प्रो० गार्बे ने भी अपने एक निबन्ध सांख्य में यह मत व्यक्त किया है कि सांख्य दर्शन उपनिषदों के ब्रह्माद्वैतवाद के विरोध मे उसकी प्रतिक्रिया के रूप में उत्पन्न हुआ[2]। इस मत के विरोध में प्रो० डा० आद्या प्रसाद मिश्र का मत है कि उपनिषदों मे न तो एक मात्र ब्रह्माद्वैतवाद ही प्रतिपादित है, जिसके विरुद्ध सांख्य दर्शन का प्रकृतिपुरुष द्वैतवाद उद्भूत हुआ कहा जा सके और न सांख्य दर्शन अपने विकास क्रम में आदि से अन्त तक एक सा ही है जिससे उसे और उपनिषद या वैदिक सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध कहा जा सके क्योंकि कारिकाओं में पूर्व का सांख्य दर्शन औपनिषद मत के बहुत समान है।[3] अतः उक्त विवेचन से सांख्य दर्शन की आस्तिकता असंदिग्ध है ।

१- ब्रह्मसूत्र शंकर भाष्य २-१-३
२- दृष्टव्य इनसाइक्लोपीडिया आफ रिलीजन एन्ड एथिक्स का ग्यारहवां भाग पृ० १८९
३- डा० आद्या प्रसाद मिश्र सांख्य दर्शन की ऐतिहासिक परम्परा पृ० ११

प्राचीन भारतीय मनीषियों की अनवरत चिन्तन परम्परा ।

के परिणाम स्वरूप उद्भूत भारतीय दर्शनों के विवेचन के अनन्तर यदि हम पाश्चात्य दर्शनों की उत्पत्ति एवं उनके लक्ष्य पर दृष्टि डालते है, तो वे हमें भारतीय दर्शनों की अपेक्षा पर्याप्त संकुचित दृष्टिकोण वाले प्रतीत होते हैं । पाश्चात्य दार्शनिक दर्शन के लिये फिलासफी शब्द का प्रयोग करते है । जो फिलो(प्रेम या अनुराग) और सोफिया(ज्ञान) इन दो ग्रीक शब्दों से मिलकर बना है ।जिसका अर्थ है। विद्यानुराग पाश्चात्य दार्शनिक जिज्ञासा से दर्शन का उद्भव तथा उसका शान्ति ही उसका लक्ष्य मानते है। पाश्चात्य विचारक हूल्बे ने तो फिलासफी को विचार प्रमाण विज्ञानों का मनोरंजक साधन माना है। जबकि भारतीय दार्शनिकों का चिन्तन का मुख्य लक्ष्य दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति एवं मोक्ष की प्राप्ति ही है ।

इसप्रकार सम्पूर्ण भारतीय दार्शनिक विचारधारा के गहन अध्ययन के अनन्तर उसकी दो विशेषतायें दृष्टिगोचर होती है। एक तो मोक्ष के सर्वोच्च आदर्श का अनुसरण और दूसरी मोक्ष के साधन के रूप में वैराग्य को मानना जिसे समस्त आस्तिक और नास्तिक दर्शन स्वीकार करते हैं ।

१- सुरेश्वर - नैष्कर्म्य सिद्धि १-६-१

ने अपने मानस पुत्र त्र्यम्बकादित्य से अद्वैत शैव दर्शन के शिक्षण का कार्य पुनः प्रारम्भ करवाया। इस त्र्यम्बकादित्य ने कैलाश पर्वत पर रहते हुए कुछ समय तक इस विषय का प्रचार किया फिर अपने शिष्य त्र्यम्बकादित्य द्वितीय को यह काम सौंप कर सिद्ध लोक के प्रति उत्क्रमण कर गये इसी प्रकार सिद्धों की चौदह पीढ़ियां बीत गयीं। पन्द्रहवी पीढ़ी के त्र्यम्बकादित्य एकबार कहीं तीर्थ यात्रा पर गये वहां उन्हें थोड़ी देर के लिये बहिर्मुखता आ गयी तो उनकी दृष्टि एक सुलक्षणों वाली कन्या पर पड़ी थी, इस कन्या के पिता के पास गये और उनसे कन्या देने के लिये स्वयं प्रार्थना की उनकी प्रार्थना से उस कन्या के पिता ने अपनी कन्या का विवाह ब्राह्मणोचित विधान से त्र्यम्बकादित्य के साथ कर दिया। इस विवाह से उस कन्या ने जिस पुत्र को जन्म दिया उसका नाम संगमादित्य रखा गया। ये संगमादित्य घूमते २ आठवीं शताब्दी में काश्मीर आ गये और स्थायी रूप से यहीं बस गये। इस तरह त्र्यम्बक मठिका कैलाश से उखड़कर काश्मीर मण्डल में स्थापित हो गयी यहां इसकी जड़ें बहुत गहराई तक पहुंच गयी और यह मठिका यहां पर अच्छी तरह पल्लवित पुष्पित हुयी।[१]

१- तन्त्रालोक १-२८-६

चूंकि शैवदर्शन की यह शाखा काश्मीर में ही अपने चरम विकास पर पहुंची इसी लिये इस अद्वैत शैव दर्शन को काश्मीर शैव दर्शन की संज्ञा प्राप्त हुयी ।

शैव दर्शन को काश्मीर शैव दर्शन , प्रत्यभिज्ञा दर्शन, त्रिक दर्शन इत्यादि नामों से अभिहित किया जाता है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन को त्रिक, दर्शन कहने के विरुद्ध डा० बलजिन्नाथ पण्डित ने आपत्ति की है। उनके अनुसार साधना के विषय में काश्मीर के शैवाचार्यों ने कई प्रकार के साधन क्रम अपनाये हैं। उनमें से वामाचार, दक्षिणाचार, कौलाचार, मताचार तथा त्रिक, आचार प्रमुख हैं। इनमें सभी में उन्होंने त्रिक आचार को श्रेष्ठ माना है। तभी तो तन्त्रा- लोक, तन्त्रसार, शिव सूत्र, स्पन्दकारिका इत्यादि प्रसिद्ध ग्रन्थों की रचना त्रिक के आधार पर ही की गयी। अतः त्रिक शास्त्र काश्मीर शैव दर्शन की उत्कृष्ट साधना क्रम का ही। नाम हो सकता है । पूरे काश्मीर दर्शन का नहीं ।[1]

<u>आगम शास्त्रः-</u> आगमशास्त्रों में मालिनी विजयोत्तर तन्त्र में शैव दर्शन के सिद्धान्तों का उल्लेख मिलता है। इसके अतिरिक्त विज्ञान भैरव स्वच्छन्द तन्त्र इत्यादि में भी शैव शास्त्र का प्रतिपादन है। इन आगमों के अतिरिक्त शिव सूत्र भी आगम शास्त्र का ही ग्रन्थ माना जाता है जिसके भगवान शिव का निःश्वास माना जाता है। शिव सूत्र, ईसा की नवीं शताब्दी में आचार्य वसुगुप्त को शिव की कृपा से स्वप्न में प्राप्त हुआ ।[2]

- -

१- डा० बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैव दर्शन पेज ८-९

२- पुण्य महादेव गिरौ महोत्स्वप्नोपदेशाध्यिता शिवसूत्र लिप्यौः ।
स्पन्दामृत वसुगुप्तपादैः श्री कल्लटमहद् प्रकटीकार, स्पन्दवृत्ति

स्पन्द शास्त्र:-

स्पन्द शास्त्र आगम शास्त्र की अपेक्षा शैवी साधना का विस्तृत एवं स्पष्ट विवेचन प्रस्तुत करता है। स्पन्द शास्त्र पर शिव सूत्रों के ही आधार पर स्पन्द, सूत्रों की रचना की गयी। जिन्हें स्पन्द कारिका भी कहा जाता है। इसकी श्लोकों की संख्या बावन है।[1] इन सूत्रों की रचना आचार्य वसुगुप्त के प्रधान शिष्य भट्ट कल्लट ने की।[2] भट्ट कल्लट ने स्पन्द सूत्रों पर स्पन्द सर्वस्व, नामक एक वृत्ति भी भी लिखी थी। इसके अतिरिक्त स्पन्द सूत्रों पर तीन अन्य टीकाओंका निर्माण हुआ।(१) आचार्य उत्पल देव के शिष्य राम कंठ की 'स्पन्दविवृति, (२) आचार्य क्षेमराज का स्पन्द निर्णय (३) व [illegible] वैष्णाव की स्पन्द प्रदीपिका, भट्ट कल्लट के ही समय में भट्टनारायण द्वारा काव्य शैली में शास्त्र के रहस्यों को वर्णन करने वाले 'स्तवचिन्तामणि नामक ग्रन्थ का निर्माण हुआ।[3]

- -

१- जे० सी० चटर्जी काश्मीर शैविज्म पेज ४५

२- शुरुस्वान्वत: शौवापि प्राप्याक्षराम सूत्रं।
श्रीकल्लटाय शिष्याय वसु: तान्यापि तान्यधो। शिव सूत्र वार्तिक १-४

३- डा० बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैव दर्शन पेज २६

प्रत्यभिज्ञा शास्त्र:-

प्रत्यभिज्ञा शास्त्र स्पन्द शास्त्र की ही भाँति अद्वैत प्रधान शैवागमों पर आधारित है। दार्शनिक दृष्टि से देखने पर संसार तथा उसके उद्गम मोक्ष एवं सर्वोच्च शक्ति इत्यादि के सम्बन्ध में दोनों की विचार धारा समान है। स्पन्द शास्त्र साधना प्रधान है और प्रत्यभिज्ञा तर्क प्रधान है। भेद केवल इतना है कि स्पन्द शास्त्र साधना प्रधान है और प्रत्यभिज्ञाशास्त्र तर्क प्रधान है। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र पर आचार्य सोमानन्द ने सर्व प्रथम शिवदृष्टि, नामक ग्रन्थ की रचना की। अत: शिवदृष्टि ही प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का सर्व प्रथम दार्शनिक ग्रन्थ है जो तार्किक शैली पर आधारित है।

तभी तो आचार्य सोमानन्द को तर्कस्य कर्ता कहा गया है।[1]

ग- शिव स्तोत्रावलि के रचयिता आचार्य उत्पलदेव।

परिचय:- काश्मीर शैव दर्शन को अपनी प्रतिभा से प्रभावित करने वाले आचार्य उत्पलदेव आचार्य सोमानन्द नाथ के प्रधान शिष्य थे। संस्कृत साहित्य के कवियों भास, कालिदास इत्यादि की भाँति उन्होंने अपने काल, वंश इत्यादि का उल्लेख अपनी कृतियों में नहीं किया। इतना अवश्य है कि शिव दृष्टि वृत्ति में एक स्थल पर उन्होंने अपने आपको उत्पलाकरसूनु, तथा सोमानन्द को अपना गुरु कहा है। अपने पुत्र विभ्रमाकर का तथा अपने सहपाठी आनन्द का नामोल्लेख भी उन्होंने किया है।[2]

१- ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी।

२- शिवदृष्टि वृत्ति

तन्त्रालोक में एक स्थल पर इनको सोमानन्दात्मज कहा गया है।[1] किन्तु इस आधार पर उन्हें सोमानन्द का पुत्र नहीं कहा जा सकता क्योंकि यहाँ पर शिष्य को पुत्र वत् समझते हुए ही ऐसा कहा गया है दूसरी बात यह है कि यदि वे सोमानन्द के पुत्र होते तो अपने आपको उदयाकरसुनु क्यों कहते आचार्य उत्पलदेव के काल निर्धारण के सम्बन्ध में आचार्य सोमानन्द नाथ को आधार बताया जा सकता है यह तो सुनिश्चित ही है कि आचार्य सोमानन्द नाथ के शिष्य होने के कारण आ० उत्पलदेव उनके परवर्ती हैं। और चूंकि आ० सोमानन्दनाथ का स्थितिकाल ईसा की नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध कहा जाता है अतः आचार्य उत्पलदेव का समय नवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध या दसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध हो सकता है।[2]

---

१ सोमानन्दात्मजोत्पलजाय इत्यभिनवगुप्तनाथः तन्त्रालोक आ०३७पृ०४१४

२- के० सी० पाण्डेय अभिनवगुप्ता एन हिस्टारिकल एण्ड फिलासाफिकल स्टडी पे० १६२

कृतित्व:- आचार्य उत्पलदेव ने अपनी व्युत्पन्न मति से लगभग ग्यारह ग्रन्थों का प्रणयन किया जिनमें से अधिकांश आज भी काश्मीर शैव दर्शन के समुत्कर्ष में सुरक्षित हैं। उनके ग्रन्थों का क्रमिक विवेचन इस प्रकार है।

१- **ईश्वर प्रत्यभिज्ञान कारिका:-** आचार्य उत्पलदेव ने सर्व प्रथम ईश्वर प्रत्यभिज्ञान कारिका का निर्माण किया। प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का परिज्ञान इसी ग्रन्थ के प्रणयन से ही हुआ अत: काश्मीर शैव दर्शन का यह अत्यन्त महत्वपूर्ण " ग्रन्थ माना जाता है

२- **ईश्वर प्रत्यभिज्ञान वृत्ति:-** ईश्वर प्रत्यभिज्ञान वृत्ति ईश्वर प्रत्यभिज्ञान कारिका की संक्षिप्त टीका है। इस ग्रन्थ में आचार्य उत्पलदेव ने संक्षेप में ईश्वर प्रत्यभिज्ञान कारिका के सिद्धान्तों को समझाने की कोशिश की है।

३- **ईश्वर प्रत्यभिज्ञान टीका:-** आचार्य उत्पलदेव ने ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका को सुस्पष्ट करने के लिये ईश्वर प्रत्यभिज्ञान टीका, नामक ग्रन्थ की रचना की।

४- **शिवस्तोत्रावलि:-** आचार्य उत्पलदेव का चौथा महत्वपूर्ण ग्रन्थ शिवस्तोत्रावलि है। इस ग्रन्थका अध्ययन करने से ऐसा प्रतीत होता है कि लेखक शिवस्तोत्रावलि के प्रणयन के समय भक्ति की मस्ती में मस्त थे। इसी मस्ती में ही उन्होंने शिवस्तोत्रावलि की रचना की। आचार्य उत्पलदेव ने स्तोत्रों की रचना मुक्तकों के रूप

मे मौलिक रूप से थे । जिन्हे उनके प्रमुख शिष्यों ने संग्रह करके लिपिबद्ध किया। कुछ काल पश्चात श्रीराम तथा आदित्य राज नामक आचार्यो ने इन्हे स्तोत्रबद्धकिया। बाद में आचार्य विश्वावर्त ने इन स्तोत्रों को २० भागो में विभक्त किया इन बीसों स्तोत्रों के नाम क्रमश: ये हैं -

१- भक्ति विलासाख्यं प्रथमं स्तोत्रं ।

२- सर्वात्मपरिभावनाख्यं द्वितीय का स्तोत्रं ।

३- प्रणाय प्रसादाख्यं तृतीयंस्तोत्रं ।

४- सुरसोद्बलाख्यं चतुर्थ स्तोत्रं ।

५- स्वबलनिदेशनाख्यं पंचम स्तोत्र ।

६- अध्वविस्फुरणाख्यं षष्ठे स्तोत्रं ।

७- विधुरविजय नाम केय सप्तमं स्तोत्रं ।

८- अलौकिको ब्रह्मनाख्यं अष्टम स्तो स्तोत्रं ।

९- स्वातन्त्र्य विजयाख्यं नवमं स्तोत्रं ।

१०- अविच्छेदभंगाख्यं दशमं स्तोत्रं।

११- औत्सुक्य विश्वसितनामैकादशं स्तोत्रम्

१२- रहस्य निर्देशनाम द्वादशं स्तोत्रम्

१३- संग्रह स्तोत्रनाम त्रयोदश स्तोत्रम्

१४- जयस्तोत्रनाम चतुर्दशं स्तोत्रम् ।

१५- भक्तिस्तोत्रनाम पञ्चदशं स्तोत्रम् ।

१६- पाशानुद्भेदनाम षोडशं स्तोत्रम्।

१७- दिव्यक्रीडाबहुमान नाम सप्तदशं स्तोत्रम् ।

१८- आविष्कारनाम अष्टादशं स्तोत्रम् ।

१९- उद्योतनाभिधान मेकोनविंशं स्तोत्रम् ।

२०- चर्वणाभिधान विंशं स्तोत्रम् ।

इनमें से संग्रह स्तोत्र, जयस्तोत्र तथा भक्ति स्तोत्र का नामकरण स्वयं आचार्य उत्पलदेव ने ही किया था। सम्भवत: ये स्तोत्र उन्हें अत्यधिक प्रिय थे[1]। शिव स्तोत्रावलि पर आचार्य अभिनवगुप्त के प्रमुख शिष्य आचार्य क्षेमराज ने विवृति नाम की टीका लिखी, जिसके आधार पर इस ग्रन्थ में निहित गूढ़ दार्शनिक तथ्यों का समुचित ज्ञान प्राप्त होता है।

- -

१- शिवस्तोत्रावलि पृ० १, २

शिवस्तोत्रावलि का वैशिष्ट्य

शिवस्तो० दार्शनिक तथ्यों से ओत प्रोत उच्चकोटि का स्तोत्र काव्य है यह ऐसी निधि है जिसमें काव्यकला और दर्शनविद्या के बहुमूल्य रत्नों की राशियाँ भरी हैं। यहाँ पर संक्षेप में शिवस्तो का वैशिष्ट्य निम्न शीर्षकों में निरूपित किया जा सकता है।

दार्शनिक पक्ष:- शिव० स्तो० में सर्वत्र दार्शनिक तथ्यों का ही प्राधान्य है। इसमें काश्मीर शैव दर्शन के प्रमुख सिद्धान्तों का स्फुटतया विवेचन किया गया है परमशिव के स्वरूप और स्वभाव, स्वातन्त्र्य सिद्धान्त स्पन्दन, मोक्ष ज्ञान, समावेश एवं पंचकृत्यों की लीला इत्यादि सिद्धान्तों का सुस्पष्ट विवेचन शिवस्तो० में प्रस्तुत किया गया है, जिसके सम्बन्ध में आगे के अध्यायों में विस्तार पूर्वक विचार किया गया है।

भक्ति प्राधान्य:-

शिवस्तो० में आद्योपान्त भक्ति सुरसरिता प्रवाहित हुयी है। भक्तिरस के प्रवाह में बहते हुए आचार्य उत्पलदेव ने भक्ति को ज्ञान, योग, इत्यादि साधनामार्गों से सुगम एवं श्रेष्ठ निरूपित किया। पराभक्ति की अवस्था को उन्होंने ज्ञान योग की पराकाष्ठा निरूपित किया।

ज्ञानस्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा
त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि पूर्णा मे स्यात्तदर्थिता ।

<u>कवित्व प्राधान्य:-</u>

आचार्य उत्पल देव ने शिवस्तो० में भावों का सुन्दर समायोजन किया है।इसके साथ ही साथ उनकी शब्दालंकारों तथा अर्थालंकारों की योजना भी दर्शनीय है इनके अलंकार की छटा पूरी शिवस्तो० में देखने योग्य है। शिवस्तो० में आचार्य उत्पलदेव की यह सरल योजना भी उनकी कुशलता का ही। परिचायक है,

शिवस्तो० में आचार्य उत्पलदेव ने सरलतम शब्दों का प्रयोग किया है। किन्तु उन शब्दों में चमत्कार एवं कुछ विचारों का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार शिवस्तो० के अध्ययन से सामान्य एवं विशिष्ट दोनों प्रकार के ही पाठकों को आनन्द लाभ प्राप्त होता है।

संक्षेप में शिवस्तो० का यही वैशिष्ट्य है। जिसका विस्तृत विवेचन आगे के अध्यायों में प्रसंग आने पर किया जायेगा।

आचार्य उत्पलदेव की अन्य रचनायें

उक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त आचार्य उत्पलदेव ने निम्न ग्रन्थों का प्रणयन किया

१- अजडप्रमातृ सिद्धि
२- ईश्वर सिद्धि
३- ईश्वर सिद्धि वृत्ति
४- सम्बन्ध सिद्धि
५- सम्बन्ध सिधि वृत्ति
६- शिव दृष्टिवृत्ति।

काश्मीर शैवदर्शन के दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त दिग्दर्शन

(1) स्वातन्त्र्य सिद्धान्त:-

काश्मीर शैव दर्शन के विभिन्न सिद्धान्तों में स्वातन्त्र्य सिद्धान्त का महत्वपूर्ण स्थान है। इस सिद्धान्त के अनुसार आभासमान समस्त यह अंशात्मक जगत् कर- का मूल परमशिव का स्वातन्त्र्य ही है। परमशिव अपने स्वातन्त्र्य से बिना किसी उपादान की अपेक्षा किये अपने स्वरूप से सर्वथा अभिन्न जगत् को भिन्न रूप की तरह प्रकट करता है। वह वेदान्त के ब्रह्म की भाँति अविद्या, आदि की अपेक्षा नहीं रखता है।[1] इस प्रकार परमशिव अपने स्वातन्त्र्य से समस्त जागतिक कृत्यों को चलाता रहता है। परमशिव का शुद्धस्वरूप प्रकाश विमर्शमय होता है। संसार में रहने वाले प्रत्येक प्राणी को अपनी सत्ता का भान होता है। इस चेतना का आधार स्वात्म प्रकाश ही होता है अत: प्रकाश एक प्रकार की चेतना ही है। जिसके बिना अर्थ की प्रतीति असम्भव है। प्रकाश रूप चेतना के ही बल पर एक अबोध बच्चे में वस्तु रूप शक्ति का प्रादुर्भाव भी इसी बल पर होता है।[2] वस्तुत: अर्थ, शुद्ध प्रकाश स्वरूप होता है। समस्त मन बुद्धि

1- स्वेच्छया न तु ब्रह्मादिवत् अन्येच्छया तथैव च न तु उपादानाद्यपेक्षया - एवं हि प्रत्युक्त स्वातन्त्र्यहान्या विश्वात्मनैव च घटेत -- स्वभित्तौ, न तु अन्यत्र क्वापि प्राक् निर्णीत विश्व दर्पणे नगरवत्: अभिन्नमपि भिन्न मिव उन्मीलयति।

2- --- बालोऽपि हि प्रकाश विमर्शात्मैव संवेदयते। भास्करी भाग १ पेज ७४

वस्तुतः इत्यादि बाह्येन्द्रियाँ [illegible] अहं रूप चेतना के प्रकाश से ही प्रकाशित होता है। परमशिव के इस प्रकाशात्मक स्वरूप की तुलना एवं विविध प्रति-बिम्बों को धारण करने वाले स्फटिक या दर्पण जैसे पदार्थों से की जा सकती है। जिस प्रकार समस्त पदार्थों को अपने में प्रतिबिम्बित करने वाली स्फटिक शिला में उन पदार्थों के प्रकट होते रहने पर भी उस शिला के स्वरूप में कोई विकार नहीं होता, उसी प्रकार परमशिव समस्त सांसारिक पदार्थों को अपने में प्रतिबिम्बित करता हुआ भी सर्वथा शुद्ध एवं निर्लेप ही बना रहता है। किन्तु दोनों में भेद यह है कि स्वयं में आभासित पदार्थों की अनुभूति स्फटिक को नहीं होती क्योंकि उसको स्वात्म प्रकाश की अनुभूति नहीं होती स्फटिक स्वात्मानुभूति न होने का कारण जड़त्व है।

स्वात्म प्रकाश युक्त प्रत्येक प्राणी को अपनी सत्ता के प्रकाश के साथ ही उस सत्ता की प्रतीति, जो होती है, वह प्रतीति मैं हूं, इस रूप में ही होती है। इस ढंग की प्रतीति ही विमर्श कहलाती है। यह विमर्श ही परमशिव का स्वातन्त्र्य कहलाता है। क्योंकि परमशिव को इस विमर्शात्मक क्रिया के प्रतिपादन में किसी अन्य शक्ति का सहारा नहीं लेना पड़ता है विमर्श के अभाव में

ब प्रकाश अधूरा है। अतः प्रकाश और विमर्श अन्योन्याश्रित हैं। परमशिव का प्रकाश विमर्शात्मक स्वरूप सामान्य चेतन प्राणी के प्रकाश विमर्श से भिन्न है।

- -

१- नानाविध वर्णरूपं धत्ते यथा अमलः स्फटिकः।
सुरमानुष पशुपादपः रूपत्वं तथेशोऽपि।। परमार्थसार कारिका ६

परमेश्वर अपने परिपूर्ण स्वातन्त्र्य से जीव रूप में प्रकट होता है। किन्तु जीव रूप में प्रकट होने पर उसकी परमेश्वरता में कोई विकार नहीं आता। जिस प्रकार मूल भूत बीज के अन्दर विशाल पेड़ विद्यमान रहता है। उसी प्रकार परमशिव के अन्दर समस्त चराचर जगत् विद्यमान रहता है।[1] परमशिव जब चाहता है तब अपने स्वातन्त्र्य से सृष्टि, स्थिति संहार इत्यादि लीलाओं को करने लगता है। अतः जगत को परमशिव की स्वतन्त्र इच्छा का विलास कहा जासकता है। किन्तु यह विलास सांख्य दर्शन के परिणामवाद से भिन्न है। सांख्य के परिणाम में विकृति है किन्तु शैवों के विलास में कोई विकृति नहीं है। परमशिव से अभिन्न आभासमान भी समस्त वस्तु तथा जगत् परमशिव ही है। उससे भिन्न समस्त कुछ भी नहीं है।[2] इस प्रकार संसार की प्रत्येक वस्तु में ज्ञान और क्रिया शक्ति से सम्पन्न चित् स्वरूप परमेश्वर ही आत्मा है। यही इन वस्तुओं का वास्तविक स्वरूप है। अन्यथा सांसारिक पदार्थों की सत्ता ही नहीं होती।

१- यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदय बीजस्थं विश्वमेतच्चराचरम् ॥ Kashmir Shaivism L.N. Sharma p.130

२- भवतावेशतः पश्यन् भावं भावं भवन्मयम् ।
विचरेयं निराकाङ्क्षः प्रहर्षपरिपूरितः ८ ॥ शिवस्तोत्र

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि परमशिव अपने प्रकाश विमर्शात्मक रूप स्वरूप से सदैव सृष्टि संहार इत्यादि कार्यों में संलग्न रहता है। यही उसकी निरन्तरता ही उसका स्वातन्त्र्य है। उसका यह स्वातन्त्र्य सदैव पाँच प्रकार से कार्य करता है। जिसको सृष्टि, स्थितिसंहार, विधान एवं अनुग्रह इस क्रम में रखा जासकता है।[1] इनको परमशिव के पञ्चकृत्य भी कहते हैं। शैव दर्शन की सृष्टि को परिभाषित करते हुए डा० बलजिन्नाथ पाण्डेय ने लिखा है कि "स्वच्छ स्फटिक जैसे अपने प्रकाश के भीतर सामान्याकार शिव-रूपी विश्व को प्रतिबिम्ब की भाँति में अपने से भिन्न रूप में अवभासित करने की लीला को सृष्टि कहते हैं"[2] सृष्टि के कार्य में परमशिव सबसे प्रथम शाम्भव, शक्तिज, मंत्रमहेश्वर मन्त्रेश्वर एवं मन्त्र इत्यादि रूपों में प्रकट होते हैं। किन्तु ये तत्त्व शरीरादि से भिन्न रहते हैं[3]। अतः यह सृष्टि विशुद्ध सृष्टि कहलाती है। इसके बाद अशुद्ध सृष्टि एवं गुणात्मकी सृष्टि की रचना होती है। जगत् की सृष्टि के अनन्तर उसकी व्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने का नाम स्थिति है समस्त चराचर जगत को अपनी पारमेश्वरी इच्छा से अपने में ही समाहित कर लेने की क्रिया को संहार कहते हैं। अपने प्रकाशात्मक स्वरूप को भुलाकर जीव भाव में प्रकट होने की क्रिया को विधान या निग्रह कृत्य कहते हैं[4]। तथा अपने भुलाये स्वरूप को गुरु शास्त्र की कृपा से पुनः पहचान कर एकात्मभाव से गुरु

१- श्री [illegible] पञ्चविधकृत्य कारित्व चिदात्मनो भगवत: [illegible] ६२-६३

२- डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैव दर्शन

३- शाम्भवाः शक्तिजाः मन्त्रमहेशाः मन्त्रनायकाः। तन्त्रालोक ६. ५२
मन्त्रा इति विशुद्धाः स्युरमी पंच गणाः क्रमात् ॥

लीला में रहता है। वह स्थिर रहता हुआ भी पर जैसा आभासित होता रहता है। उस अवस्था को वह चलता जैसी अभिव्यक्ति को स्पन्द कहते हैं। इसी के द्वारा पंच कृत्यों की लीला का अभिनय होता रहता है। उसकी इस शुद्ध शक्ति के स्पन्दन से ही यह जगदात्मक जगत् की सृष्टि होती है। इस अनुसार परमशिव के शिवता और शक्तिता के दो पार्श्व होते हैं। इनमेंसे शक्तिता के

अन्तर्गत स्वातन्त्र्य कर्तृत्व स्वतन्त्रता, सार, हृदय स्पन्द इत्यादि अनेकों प्रकार की विशेषताओं का समावेश होता है। जिनके द्वारा परमशिव जगत् रूपी विशाल रंगमंच में सृष्टि संहार की लीलाओं को चलाता रहता है। इनमेंसे स्पन्द शक्ति अतीव महत्त्वपूर्ण है। इसी केद्वारा परमशिव अपनी असीम परमेश्वरता को प्रकट करता है। उसकी यह परमेश्वरता अपूर्व होती है। इसीसे वह पर वह कंचुक रूपों की लीला चलाता रहता है। वास्तव में उससे भिन्न कुछ भी नहीं है। इसी लिये शैव दर्शन शंकर दर्शन के जगत् की वास्तविकता के सिद्धान्त से तो सहमत है किन्तु उसके शैववाद से असहमत है। क्योंकि वह अपने आप में पराशक्ति है। इसी प्रकार वह वेदान्त के जगत् ब्रह्मैक्य को तो स्वीकार करता है किन्तु उसकी जगत् के मिथ्यात्व की धारणा को बिलकुल अस्वीकार

१- परमेश्वरता का स्वरूप

तव विश्वेश यदीश स्यपूर्णा
अपरापि तथैव तवैव
जगदाभाति यथा तथा न भाति शिवस्तो० १६।३०

करता है। उसके अनुसार जगत् का मूल रूप उस परमशिव की शक्तिता में बीज रूप में उसी प्रकार विद्यमान रहता है। जिस प्रकार विशाल पेड़ एक छोटे से बीज में विद्यमान रहता है। वेदान्ति ब्रह्म को स्पन्दहीन, शान्त स्वभाव मानता है। किन्तु शैवागम परमशिव को गतिशील मानते हैं। यह गति शक्ति इच्छाज्ञान, क्रिया, शक्ति के रूप में उसके स्वभाव की ही अभिव्यक्ति है।[1]

भेदाभेद या शुद्धविद्या भूमिका की तदुत्तरकालीन दशा माया भूमिका, कहलाती है। इसे स्पन्द की तीसरी भूमिका कहा जा सकता है। माया के सम्बन्ध में वेदान्त और शैवदर्शन में पर्याप्त विभेद है। वेदान्तियों के अनुसार माया, भौतिक, जगत का आदिकारण तथा भ्रम की जनक उपाधि है। इसे न तो सत् कहा जा सकता है न असत्। यह सदसद् विलक्षण है। इसके विपरीत काश्मीर शैवदर्शन में माया विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त हुई है। उसके अनुसार माया कोई उपाधि नहीं बल्कि परमशिव की अपनी विभिन्न शक्तियों में से एक शक्ति ही है।[1] सृष्टि के समय जब शिव अपनी माया शक्ति को आभिमुख्यतया उभारता है। तब वह मायाशक्ति, कहलाती है। जब संसार के रूप में इसका आभासन होता है तब यह माया तत्त्व के रूप में जानी जाती है और जब वह विभिन्न रूपों में अवभासित होती है तब वह माया ग्रन्थि, कहलाती है।[2] इस प्रकार माया उन अवभासों को कहते हैं जो अनुपपन्न हैं।

इस प्रकार परमशिव अपने स्पन्दन अथवा विमर्श से सृष्टि, स्थिति, संहार की लीला चलाता रहता है।। अपने से भिन्न जगत को उत्पन्न करना, उसे अपने में समाहित कर लेना उसके स्पन्दन का ही माहात्म्य है।[3] उसके स्वरूप का यह संकोच विकास उसके उन्मेष, निमेष नामक क्रियाओं के बल पर होता है। उसके उन्मेष से क्रिया शक्ति के संचार से स्वरूप विकास होने पर जगत का प्रलय तथा निमेष अर्थात् क्रियाशक्ति के प्रत्याहृत होने पर स्वरूप संकोच होने पर जगत का उदय होता है।[4]

१- एल० एन० शर्मा कश्मीर पी० २१२

२- अनुपपन्न अवभासमानं माया इति उच्यते — ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी ४ १८

३- विमर्शो हि सर्वंसहः परमपि आत्मीकरोति आत्मानं च परीकरोति, उभयमपि एकीकरोति एकीकृतं द्वयमपि न्यग्भावयति इत्येवं स्वभावः — ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी ४ १३

४- यस्योन्मेषनिमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ। तं शक्तिचक्रविभवप्रभवं शंकरं स्तुमः।। स्पन्दकारिका १

संसार की प्रत्येक वस्तु चाहे जड़ हो या चेतन रूप में परमशिव की परमेश्वरता

व्याप्त रहती है। परमशिव का संकोच विकासात्मक स्वरूप उसकी शिवता, शक्तिता के माध्यम से होता है। जब संसार अनभिव्यक्तावस्था में रहता है। तब शिवता का विकास होता है। तथा शक्तिता का संकोच होता है। और जब संसार अपनी पूर्णविकासावस्था में अभिव्यक्त हो जाता है तब शक्तिता का विकास और शिवता का संकोच होता है। उसकी यह क्रिया नित्य एवं अनुपम होता है यह पर निरन्तर चलती रहती है। यह सब कार्य परमशिव के परिपूर्ण स्वातन्त्र्य के फलस्वरूप ही होते हैं। उसके परिपूर्ण स्वातन्त्र्य की छलकन ही स्पन्दन है। डॉ बलजिन्नाथ पण्डित के अनुसार,, परमशिव चैतन्य के आनन्द का मानो एक समुद्र है जो सदैव परिपूर्ण है परिपूर्णता के अतिशय से `` वह छलकता सा है, उसकी इस छलकन से आनन्द रस की बूंदें जब इधर उधर क्षेत्र के कोनों में बिखर जाती हैं तो वहीं जाकर अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के रूप में अभिव्यक्त हो जाती हैं।[1] वह अपने स्फुरत्ता[2] से अपने बिन्दुरूप में भासित होते ही सारे जगत् को विकसित कर देता है[3]। तभी तो उसके इस स्पन्दात्मक स्वभाव को स्फुरण अर्थात् फड़कन भी कहा जाता है। उसके इस स्वरूप को एक प्रकार की गतिशीलता के रूप में भी अभिव्यक्त किया गया है।

इस प्रकार समस्त जड़ चेतन जगत् में परमशिव के सिवा कुछ भी नहीं है। समस्त प्रपंचों को जन्म देता हुआ भी वह इन सब से परे है।

१- डॉ बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैव दर्शन पेज ८२

२- स्फारयस्यखिलमात्मना स्फुरन्

विश्वमामृशसि रूपमामृशन्

यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे

तत्समुल्लसति भावमण्डलम् । शिवस्तोत्रावली १३।१५

३- स्पन्दनं च किंचिच्चलनम् स्वरूपात्मकादपि चलत्वम्भावतः

चलनमेव च किंचिद्रूपतम् ---- ई० पी० वि० पृ० २००

४- सर्वाभिमायं विमर्शः ईश्वरप्रत्यभिज्ञा ४ ११२

उसकी अनन्त शक्तियाँ अनन्त रूपों में उसके स्पन्दन के प्रभाव से ही प्रकट होती रहती है।[1] इसीलिये काश्मीर शैव दर्शन को आचार्य अभिनव गुप्त ने पराद्वैत दर्शन कहा है।[2]

१- प्रत्यभिज्ञानरूपाय नमस्ते चिन्मूर्तये।
सदानन्द प्रकाशाय स्वात्मनोऽनन्तशक्तये॥
अभिनव गुप्त महोपदेश विंशतिकम्

२- डॉ बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैवदर्शन पेज ८४

(ग)

सृष्टि और संहार

भारतीय दर्शनों की परम्परा में प्रायः प्रत्येक दर्शन के प्रणेता आचार्यों ने सृष्टि एवं संहार की प्रक्रियाओं का विवेचन प्रस्तुत किया है। सृष्टि संहार का प्रकरण अन्य विविध दार्शनिक सिद्धान्तों की अपेक्षा महत्वपूर्ण भी है। यह अखिल ब्रह्माण्ड किस प्रकार उत्पन्न होता है। और कहाँ विलीन हो जाता है। इत्यादि प्रश्न बहुत ही महत्वपूर्ण है। अन्य दर्शनों की भाँति काश्मीर शैव दर्शन भी सृष्टि संहार के सम्बन्ध में विवेचन प्रस्तुत करता है किन्तु उसकी अनुत्तर-परमशिव धारणा अन्य भारतीय दर्शनों से पृथक है। उसके अनुसार परमशिव अपनी स्वतन्त्र इच्छा से विश्व को विभिन्न रूपों में प्रकट करता रहता है।[1] उसकी यह सृष्टि विशुद्ध सृष्टि, अशुद्ध सृष्टि एवं गुराम्यी सृष्टि के भेद से तीन प्रकार की होती है।[2] तभी तो विशुद्ध सृष्टि की दशा में उसके स्वरूप के सिवा और कुछ भी नहीं होता वस्तुतः उसके स्वरूप से भिन्न कुछ है ही नहीं किन्तु फिर भी भेदात्मक संसार में जो सुख दुःख इत्यादि दिखायी पड़ते हैं। वह उसी परमशिव की विशुद्ध लीला के परिणाम हैं।[3] जब तक ये समस्त सांसारिक जन उस परमशिव के असल रूप से भिन्न रहते हैं तब तक नीरस एवं दुःखमय होते हैं। किन्तु जब वही परमशिव की अनुग्रह लीला से परमानन्दमय हो जाते हैं तो उस परमशिव के सिवा कुछ भी नहीं प्रतीत होता।[4]

१- चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः प्रत्य० हृद० । Kashmir Shaivism L.N. Sharma p. 218

२- डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैव दर्शन पेज ९६ से १२६ तक

३- न च विभिन्न मनुष्यवत् किञ्चित्।

सत्यम् सुखेऽप्यस्य तु भिन्नितु
अस्य दुःखि च नापि च सर्वथा

व्याप्तविस्मयाय नमोऽस्तु ते । शिव स्तो० १८।१८

४- मा सुखसङ्कुलामेव पर सर्वादिता सदा ।

सर्वोत्सव रूपाणि सन्त्राणपाककानुमे ।। शिव स्तो० १३।६

विशुद्ध सृष्टि

शिव शक्ति तत्त्व

विशुद्ध सृष्टि का एक मात्र कर्ता परमशिव ही होता है। इसी परतत्त्व में सभी शक्तियाँ निर्भर हैं।[1] विशुद्ध सृष्टि अभेदमयी सृष्टि होती है। परमशिव के चित् शक्ति के स्पन्दन से विशुद्ध सृष्टि के प्रारम्भ में सर्वप्रथम शिवतत्त्व का आविर्भाव हो जाता है। शिवता की स्थिति में संसार विशुद्ध अहम्, के रूप में आभासित होता है।[2] निर्विकल्प समाधि तो शून्यता की अवस्था होती है। शिव अपने स्वभाव से ही सृष्टि आदि पांच कृत्यों के प्रति सदा उन्मुख बना रहता है। वह बाहर-में रहती लीला की अभिव्यक्ति के द्युति जो उसकी आभिमुख्य प्रधान अवस्था होती है। उसी को शक्तितत्त्व कहते हैं।

शिव तत्त्व के अनन्तर शक्ति तत्त्व का आविर्भाव होता है। शक्ति तत्त्व के बिना, अहम् आभास मात्र ही रहता है उसकी परिपूर्ण अभिव्यक्ति तो शक्ति तत्त्व के सहयोग से ही होती है। अतः शिव, शक्ति तत्त्व एक दूसरे के पूरक है। जिस प्रकार शक्ति तत्त्व के अभाव में अहं की प्रतीति असम्भव है उसी प्रकार शिव तत्त्व के अभाव में अहम् सदवू, यह प्रतीति भी असम्भव है। शक्ति तत्त्व को परमशिव का विमर्श प्रधान स्वरूप भी कहा जाता है। शिव शक्ति तत्त्व में ठहरे हुए प्राणी अकल प्राणी कहलाते हैं इनका स्वरूप शुद्ध संवित होती है।[3]

सदाशिव

शिव तत्त्व एवं शक्तितत्त्व के आविर्भाव के उपरान्त में इच्छा शक्ति के स्पन्दन से सदाशिव तत्त्व का आविर्भाव हो जाता है। सदाशिव दशा में शुद्ध संवित स्वरूप प्रमातृतत्त्व के भीतर प्रमेयता का भी आभास होने लगता है इस स्थिति की तुलना किसी चित्रकार चित्र बनाने की कल्पना से किया जा सकता है।

- -

१- एकैकत्रापि तत्त्वेऽस्मिन्सर्वे शक्ति सुनिर्भरे।
   तत्तत्प्राधान्ययोगेन स स भेदो निरूप्यते ।। तन्त्रालोक ६ ५६

२- निरंशात् पूर्णचिदमिति पुरा भासयति यत् ।ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी ३-१
३ डॉ बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैवदर्शन पेज ८८

४- पूर्व प्रथमस्पन्दावस्थात्मनः करतोक्लेषमिव आमलात्सकलव्याप्तिति चिकीर्षत कर्म यद भौविक तन्न चैतन्य अर्थत्व तादृशि भासरात तथा प्रथमं नाम यच्चिबहिरौन्मुख्य

तत्त्वाशिवतत्त्वम् ५० प्र० वि० २।७।८२।

सदा शिव तत्त्व की दशा में अहं के भीतर ही इदं का भी धीमा सा आभास हो जाता जाता है और प्रमाता में इस प्रकार के विमर्श का उदय हो जाता है कि मैं यह हूं। इस तत्त्व में ठहरे हुए प्राणी मन्त्रमहेश्वर कहलाते हैं चूंकि ये प्राणी इदं अंश की छाया से युक्त होते हैं अत: आणवमल के आभास का बीज इन में प्रकट हो जाता है।[1] किन्तु इस स्थिति में संसार का स्फुट आभास नहीं होता है। यह भेदाभेद की दशा होती है।इस स्थिति के प्राणी आत्मानन्द में ही तल्लीन रहते हैं। परमशिव की यहाँ तक की लीला अन्तर्मुखी ही रहती है। इसके बाद की दशा बहिर्मुखी होती है जिसे चलाने के लिये ईश्वर तत्व का आविर्भाव होता है।

ईश्वर :-

विशुद्ध सृष्टि के अन्तर्गत चौथा महत्वपूर्ण तत्त्व ईश्वर तत्व है। ईश्वर तत्व परमशिव की ज्ञान शक्ति के स्पन्दन का परिणाम है। यद्यपि सदाशिव तत्त्व में सामान्यरूपकार जगत् का अस्फुट आभास होने लगता है। तथापि उसकी स्फुटतया प्रतीति ईश्वर तत्त्व के आविर्भाव से ही होतीहै। तात्पर्य यह है कि परमशिव की बहिर्मुखी लीला का संचालक "ईश्वर" ही है। ईश्वरता की स्थिति में जगत् "यह मैं हूं" इस रूप में आभासित होता है। शैव दर्शन और वेदान्त दर्शन दोनों ही ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करते हैं। किन्तु दोनों के ईश्वर में प्रत्यक्ष विभेद है। वेदान्त के अनुसार ब्रह्म जब "माया" नामक उपाधि से उपहित होता है तो ईश्वर के रूप में आभासित होने लगता है।[2] अर्थात वेदान्त में माया के सम्बन्ध से उस के नियन्ता को ईश्वर कहते हैं। किन्तु शैव मत में अपने स्वातन्त्र्य के बल पर स्वयमेव स्फुटभेद युक्त अभेदता में पर उतरे हुए परमशिव को ही ईश्वर कहते हैं।[3]

शुद्ध विद्या :-

शुद्ध विद्या का आविर्भाव परमेश्वर की क्रिया शक्ति के स्पन्दन से होता है। यह विशुद्ध सृष्टि का पांचवां और अन्तिम तत्त्व है। इस तत्त्व में ठहरे हुए प्राणिमात्र को।

१- डॉ के० सी० पाण्डेय अभिनवगुप्ता हिस्टोरिकल एण्ड फिलॉसॉफिकल स्टडी पेज ३५५ १९६३

२- माया बिम्बो वशीकृत्य तां स्यात् सर्वज्ञ ईश्वर: - पंचदशी १-१६

३- डॉ बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैवदर्शन पेज ८८

अभेद में भी भेद की और भेद में भी अभेद की दृष्टि बनी रहती है। वस्तुत: मन्त्रेश्वरों और मन्त्रमहेश्वरोंकी जो भेदाभेद दृष्टि केवल दृष्टि ही उन्हें करण तत्व का काम देती है। उनके उस करन स्थानीय तत्व को शुद्ध विद्या कहते हैं। इस तत्व की ही अभिव्यक्ति जब प्रधानतया होती है तो मन्त्र प्राणियों का आवि-र्भाव होता है। उन्हें विद्येश्वर भी कहते हैं। उनके उपास्य देव भगवान् अनन्त नाथ हैं। वे प्राणी अपने आपको शुद्ध संवित् स्वरूप समझते तो हैं। परन्तु फिर भी जगत को अपने से भिन्न रूप में देखते हैं।

इस प्रकार विशुद्ध दृष्टि के विवेचन से स्पष्ट है कि विशुद्ध दृष्टि में ठहरे हुए प्राणियों को अपनी शुद्ध संवित् का आभास तो होता है किन्तु वे धीरे २ अपने अस्तित्व को भुलाकर अपने को परमेश्वर से भिन्न समझने लगते हैं। और उनसे जगत को भी अपने से भिन्न रूप में देखने लगते हैं। इस दृष्टि के प्राणियों को माया एवं उसके विकार व्याप्त नहीं करते। इस दृष्टि की निचली भूमि का के पंच प्राणी महामाया के अधिकारी प्राणी कहलाते हैं। यह महामाया तत्व कोई अलग तत्त्व नहीं है बल्कि इसे शुद्धविद्या के अन्तर्गत ही माना जाता है।[2]

- -

१- डॉ बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैव दर्शन पेज ६१

२- ,, ,, ,, ,, ६२

(ii) अशुद्ध सृष्टि

मायातत्त्व

विशुद्ध सृष्टि का सृष्टा स्वयं परमशिव ही होता है। उसमें अहन्ता और इदन्ता दोनों ही परस्पर अभेद की दृष्टि से प्रयुक्त होते हैं किन्तु अशुद्ध सृष्टि में वे दोनों ही अलग २ रूपों में परिवर्तित हो जाते हैं। शुद्ध विद्यातत्त्व में ठहरे हुए भगवान अनन्तनाथ माया इत्यादि तत्त्वों की सृष्टि करते हैं। वस्तुत: यह माया तत्त्व भी परमशिव की माया शक्ति के द्वारा ही उत्पन्न होता है। इस अशुद्ध सृष्टि का प्रथम तत्त्व यह, माया, ही होती है। माया तत्त्व के द्वारा कर पूर्ण भेद की अवस्था उत्पन्न हो जाती है। इसके लिये मायातत्त्व को किसी अन्य सहायक की अपेक्षा नहीं होती। चूंकि इस माया तत्त्व में से भेदात्मक को भी जड़माना जाता है।[2] इस प्रकार भेदात्मक जगत् की उत्पत्ति का उपादान कारण होने से शैव दर्शन में प्रमाता की भेदमयी दृष्टि को 'माया' कहते हैं। इसे स्वरूप तिरोधान करने वाली शिव की शक्ति भी कहा जाता है।[3] यह मायातत्त्व प्रमाता के शुद्ध स्वरूप का तिरोधान करके भेद प्रथम की उत्पत्ति करने वाली होती।[4] सम्पूर्ण सृष्टि का एक मात्र कर्ता तो परमशिव ही होता है। वह सृष्टि कार्य में पूर्णतया स्वतन्त्र है। वह अपनी ही स्वतन्त्र इच्छा के स्पन्दन से भिन्न वर्ग के सृष्टि आदि कार्यों को विभिन्न प्रकार के ईश्वरों से कराता रहता है वह वेदान्त के ब्रह्म की भांति पराधीन नहीं।[5]

कञ्चुक तत्त्व

भगवान अनन्त नाथ उत्पन्न करते हैं तो उसमें से जब पांच प्रकार के कञ्चुक तत्त्वों का प्रादुर्भाव होता है।

१- अथाभेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान्।
 धर्मीकृ वानन्तनाथविभागः सा परा निशा ।। तन्त्रालोक ६ ११६

२ सा जडा भेद रूपत्वात् कार्यं चास्या कलं यतः।
 व्यापिनी विश्वहेतु तत्त्वात् सूक्ष्मा कार्यप्रकल्पनात् ।।
 शिव शक्त्या विनाभावात् नित्यैका मूल कारणम् तन्त्रालोक ६ १२७

३- डॉ बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैवदर्शन पेज ६८

४- तिरोधानकरी मायाभिधा पुन: - - - - - - - - ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ।।। ७

इन पांच प्रकार के कञ्चुक तत्वों को कला, विद्या , राग काल और नियति इस क्रम में रखा जा सकता है। ये पांचों तत्त्व माया के विस्तार हैं। इन तत्वों की परिधि में बंधे हुए भेद दशा में उतरे हुए प्राणियों को अपनी शुद्ध संवित् का ज्ञान नहीं रहता जिसके कारण वे पूर्णतया सांसारिक बन्धन में फंस जाते हैं।

कला और विद्या तत्त्व

पूर्व विवेचन के अनुसार माया जड है अत: उसकी सृष्टि भी जड होती है। किन्तु जड सृष्टि में जागतिक कार्य व्यापार असम्भव होगा, अत: प्रमाता को कुछ करना पड़ता है, करना बिना जानने के असम्भव है। अत: परमेश्वर अपनी माया शक्ति से मायातत्त्व की भूमिका में उतरे हुए प्रमाता को ज्ञान क्रियात्मक चेतना का अंश मात्र प्रदान कर देता है। इस प्रकार शुद्ध विद्या की भूमिका से माया भूमिका में उतरे हुए प्रमाता के पास भी ज्ञान क्रियात्मक शक्तियां होती हैं परन्तु अंश मात्र होने से उन में संकोच उत्पन्न हो जाता है। तात्पर्य यह है कि समस्त जगत् परमेश्वरात्मक ही है। प्रमाता की ज्ञान क्रियात्मक शक्तियों में संकोच उसकी अकल्पित अप्रतिहत स्वच्छ संकोचनात्मक स्वेच्छा शक्ति से ही होता है इस इच्छा शक्ति से ही सब कुछ भेद मय प्रतीत होता है।[१] फल यह होता है कि माया प्रमाता अपने से भिन्न किसी किसी ही प्रमेय को जान सकता है और कर सकता है। उसकी यह अल्पज्ञता और अल्पकर्तृता ही दो कञ्चुक तत्त्व होते हैं जिन्हें क्रम से अशुद्धविद्या और कला कहा जाता है। इन दो कञ्चुकों के घेरे में आये हुए प्रमाता की ज्ञान शक्ति भी संकोच को प्राप्त कर जाती है। और क्रियाशक्ति भी। फलत: वह सर्वज्ञ और सर्व कर्ता नहीं रहता है।

- -

१- सदा भवद्देहनिवासस्वस्थो

अप्यन्त: परं दह्यत एवालोक:

स्वेच्छया वस्तुत मे बधान

* स्वदर्शनानन्दमयो भवेयम् -- शिवस्तो० १८।५

राग

कला तत्व प्रमाता की क्रिया शक्ति में संकोच उत्पन्न करता है[1]। जब कि विद्या तत्व प्रमाता की ज्ञान शक्ति में संकोच लाता है। यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है। कि जब मायीय प्रमाता की संकुचित ज्ञानक्रियात्मक शक्ति सृष्टि के सभी प्राणियों में समान रूप से रहती है। तो फिर व्यक्ति को किसी वस्तु के जानने के और करने के प्रति रुचि, अरुचि इत्यादि किसके माध्यम से उत्पन्न होती है। इस प्रश्न के उत्तर में माया, के तीसरे प्रकार के विस्तार राग तत्व को रखा जासकता है। राग तत्व के द्वारा विभिन्न प्रमाताओं में भिन्न २ प्रकार का राग उत्पन्न होता रहता है।[2] जिससे प्रमाता की संकुचित ज्ञान क्रियात्मक शक्ति में और अधिक संकोच हो जाता है। इस राग तत्व को वैराग्य का अभाव नहीं कहा जा सकता, जैसा कि सांख्य दर्शन राग तत्व तो कभी वैराग्य के प्रति भी रुचि उत्पन्न कर देता है। तो राग संकुचित रुचि है। राग तत्व अपूर्णमन्यता के रूप में भी प्रकट होजाता है तब इस राग तत्व के कारण ही प्राणी सदैव यही चाहता रहता है कि उसके ये शरीरादि सदैव बने रहें, इनका कभी भी उच्छेद न हो[3]। इस प्रकार राग तत्व में पहुँचे हुए प्राणियों की शुद्ध संवित् और अधिक संकुचित हो जाती है।

कालतत्व।

माया का चौथा विस्तार काल तत्व के रूप में होता है। यह कालतत्व म माया भूमिका में उतरे हुए प्राणियों का चौथा कंचुक तत्व होता है। कालतत्व के आवरण से प्रमाता की संवित् मे और अधिक संकोच, होजाता है, जिससे वह अपने ऊपर भूत + वर्तमान, भविष्य की कल्पना करने लगता है परिणामस्वरूप प्रमाता, "मैं था, मैं हूं, मैं होऊंगा," इस प्रकार की बातों को सोचने लगता है।

१- कला हि किञ्चित्कर्तृत्वं सूते स्वाङ्गिनमात्मनः।
तत्त्वान्तराण्यपि ततो न्यूनं सम्पन्नं सा प्रसूयते ॥ तन्त्रालोक ६ १२६

२- किञ्चित्तु कुर्वतस्तस्मान्नूनमस्त्यपरं तु तत् ॥
रागत त्त्वमिति प्रोक्तं यत्तत्रैवो पर ञ्जकम् ॥ तन्त्रालोक ६ १२७

३- डॉ बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैव दर्शन पेज १०१

इस प्रकार कालतत्त्व के कारण क्रियाओं के आधारपर काल क्रम की कल्पना मूर्ति वैचित्र्य के आधारपर देशक्रम की कल्पना ठहरती है।

नियति:-

मायीय सकल प्रमाता के पांचवे प्रकार के संकोच का कारण नियति तत्त्व होता है। नियति तत्त्व के प्रभाव से प्रमाता की ज्ञान शक्ति और क्रियाशक्ति पूर्णतया बाधित हो जाती है। पद पद पर उनके ऊपर नियति के नियमों की पराधनता हो जाती है।
यह तत्त्व ब्रम्हा, विष्णु और रुद्र तक को व्याप्त करता है। इससे कोई भी छूटता नही रहता। यह तत्त्व अपनी सामर्थ्य से इस प्रकार की सृष्टि की व्यवस्था को नियोजित करता है।[१]

इस प्रकार उक्त पांचों कंचुक तत्त्वों को माया का ही विस्तार कहा जाता है ये पांचों तत्त्व प्रमाता की शुद्ध संवित् को ढक देते हैं जिससे वह आत्मरूपी महान् कीचड़ में फंस जाता है तन्त्रालोक में विद्या, राग, नियति और काल को कला नामक तत्त्व का ही कार्य बताया गया है।[२]

पुरुष।

माया सहित छः कंचुक तत्त्वों से ढकी हुयी शुद्ध संवित संकोच से अवरुद्ध होजाती है। इन छः तत्त्वों से ढकी हुयी शुद्ध संवित को ही पुरुष तत्त्व कहते हैं।[३] इस प्रकार यह पुरुष तत्त्व आणव मायीय एवं कार्म मलों से दूषित हो जाता है शैव दर्शन में पुरुष को पुमान् पुद्गल व अणु जीव इत्यादि विभिन्न नामों से जाना जाता है। पूर्णत्व के अभाव से ही उसे अणु कहा जाता है। (पूर्णत्वाभावेन परिमितत्वाद् अणुत्वम्) शैव दर्शन में पुरुष तत्त्व से तात्पर्य किसी मानवीय प्राणी से नही है।

१- नियतिर्नियोजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले - तन्त्रालोक ९ २६०

२- विद्या रागोऽथ नियतिः कालश्चैत चतुष्टयम् कलाकार्यम् --- ९ २६१

३- डा० बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैव दर्शन पेज २०५

बल्कि पुरुष तत्त्व संकुचित संविद् को ही कहते हैं। सांख्य दर्शन भी पुरुष तत्त्व को मानता है। किन्तु शैव दर्शन के पुरुष और सांख्य के पुरुष में प्रयाप्त[1] भेद है। सांख्य दर्शन पुरुष को चेतन, अपरिणामशील एवं व्यापी मानता है। जबकि शैव दर्शन पुरुष तत्त्वको परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छा का फल मानता है। सांख्यों का पुरुष अकर्ता और ज्ञाता तथा अभोक्ता है। शैवों का पुरुष कर्ता भी है और भोक्ता भी।

प्रकृति और तीन गुण

संसारावस्था में प्रकृति ही सबसे पहला वेद्यतत्त्व होता है। यह कला तत्त्व के प्रभाव से उत्पन्न होता है।[2] प्रकृति तत्त्व को एक अन्य रूप में भी परिभाषित किया गया है। पुरुष प्रमाता का जो सामान्य आकार केवल वेद्य रूप में ही आभासित होता हुआ प्रमेय तत्त्व होता है उसे प्रकृति तत्त्व कहते हैं।[3] इस प्रकार कंचुक भाव में स्थित ही प्रकृति है जिसमें अखिल विश्व विद्यमान रहता है। और जिसके उदीयमान हो जाने पर वह प्रकट हो जाता है। सांख्य दर्शन भी प्रकृति तत्त्वको मानता है किन्तु शैवदर्शन की प्रकृति से उसका प्रयाप्त भेद है। सांख्य के अनुसार प्रकृति अपने सभी कार्यों के लिये स्वाश्रित है किन्तु शैवदर्शन की प्रकृति भगवान श्री कण्ठनाथ के द्वारा प्रेरित किये जाने पर कार्य करती है।[4] सांख्य दर्शन के अनुसार प्रकृति एक है जबकि शैवदर्शन प्रत्येक पुरुष के लिये अलग २ प्रकृति मानता है।[5]

अब जहाँ तक गुणों का प्रश्न है शैवदर्शन सांख्य दर्शन की ही भांति सत्त्व रजस् एवं तमस्, इन तीन गुणों को मानता है। इन तीनों गुणों की साम्यावस्था में भाव सामान्य वेद्य के रूप में रहता है। भगवान श्रीकण्ठनाथ।

१- सांख्यतत्त्व कौमुदीप्रभा कारिका ३७, ३८

२- वेद्यमात्रं स्फुटं भिन्नं प्रधानं सूयते कला- तन्त्रालोक ९, २७९

३- डा० बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैव दर्शन।

४- ईश्वरेच्छावशात् क्षुब्धं तौलितं पुरुषं प्रति।
भोक्तृत्वाय स्वतन्त्रेशः प्रकृतिं क्षोभयेत् पुनः॥ वही तन्त्रालोक ९, २८०

५- तस्मात् प्रति पुरु नियतत्वात् अनेकम्/ तन्त्रालोक ९।२८०

प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करते हैं तो गुणों में परस्पर वैषम्य हो जाता है। जिसके परिणाम स्वरूप जगत् आभासित होने लगता है।

(iii) गुणात्मी सृष्टि:-

अन्त:करण:-

जब भगवान श्री कृष्णनाथ प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न कर देते हैं तो गुणों में वैषम्य होने के कारण अन्त:करणों का उदय हो जाता है। इनमें से सर्व प्रथम बुद्धितत्व का आविर्भाव हो जाता है। बुद्धि जड़ होती है किन्तु चेतन पुरुष के प्रतिबिम्ब को धारणा करती हुई चेतनवत् प्रतीत होती है। बुद्धि व्यवसायात्मिका होती है वह चक्षुरिन्द्रियाँ आदि से प्राप्त होने वाले बाह्य पदार्थों को तथा इन्द्रिय गोचर न होने वाले मानसिक पदार्थों को अपने में प्रतिबिम्बित करती है। स्वप्न देखने के अनन्तर प्राणी को उन सभी बातों का स्मरण जिन्हे उसने स्वप्न में देखा है बुद्धि के व्यवसाय से ही सम्भव हो जाता है।

अन्त:करण का दूसरा तत्व अहंकार होता है। जो बुद्धि के व्यवसाय से उत्पन्न होता है। कला इत्यादि पांच प्रकार के कंचुक तत्वों से परिच्छिन्न पुरुष को जो ज्ञातृत्व और कर्तृत्व का अभिमान, मैं सोया, मैं गया, मैं देखा इत्यादि रूप में होता है। इसका कारण अहंकार तत्तव ही है। पुरुष प्रमाता का यह अहं भाव संकुचित और विकल्प प्रधान होता है किन्तु शुद्ध परिपूर्ण शिवता की दशा का अहंभाव, विकल्पशून्य और परिपूर्ण होता है। वह शुद्ध एवं पारमार्थिक है किन्तु जीव का अहं का अभिमान कृत्रिम है। अहंकार में प्रयुक्त कार शब्द इसी कृत्रिमता का द्योतक है। यह अहंकार शुद्ध अहं नहीं वह तो माया के प्रभाव से ही प्रकट होता है अत: भ्रान्ति स्वरूप ही है। जैसे शुक्ति में रजत की भ्रान्ति होती है। उसी तरह।

- -

१- अहंकारो येन बुद्धि प्रतिबिम्बिते वेद्य सम्पर्के कलुषे पुंप्रकाशे। भ्रान्त्यति आत्माभिमान: शुक्तौ रजताभिमानवत् ?--- तन्त्रसार आह्निक ८

अन्तःकरणों की सृष्टि के अनन्तर पाँच प्रकार की ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच प्रकार की कर्मेन्द्रियों की सृष्टि होती है। ये ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ पुरुष के मानसिक व्यवहारों के सम्पादन में रखा जा सकता है।

(1) <u>ज्ञानेन्द्रियाँ</u> :- ज्ञानेन्द्रियों की कोटि में निम्न पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ आती हैं।

(क) घ्राणेन्द्रिय: - घ्राणेन्द्रिय से पुरुष को विभिन्न प्रकार की गन्धों का ज्ञान होता है।

(ख) रसनेन्द्रियाँ :- रसनेन्द्रिय से खट्टा, मीठा, इत्यादि प्रकार के स्वादों की प्रतीति होती है।

(ग) चक्षुरिन्द्रिय:- चक्षुरिन्द्रिय से रूप, आकार इत्यादि का ज्ञान होता है।

(घ) स्पर्शेन्द्रियाँ (त्वक् इन्द्रिय):- स्पर्शेन्द्रिय से शीत, उष्ण, छबीला, कम-नरम-कोमल के कठोर इत्यादि का आभास होता है।

(ङ) श्रवणेन्द्रिय:- श्रवणेन्द्रिय से पुरुष में शब्दों को सुनने की शक्ति का प्रादुर्भाव होता है।

<u>कर्मेन्द्रियाँ</u>

पुरुष की क्रिया कारिता में सहायक बनने वाली इन्द्रियों को कर्मेन्द्रिय कहते हैं, ये पाँच प्रकार की होती हैं।

(क) उपस्थेन्द्रिय: विषय सुख को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त करने वाली इन्द्रिय उपस्थेन्द्रिय कहलाती है।

(ख) पायु इन्द्रिय:- पायु इन्द्रिय से मलत्याग की क्रियायें सम्पन्न होती हैं।

(ग) पादेन्द्रिय:- पुरुष के गमन आगमन की क्रियाओं का साधन बनने वाली इन्द्रिय पादेन्द्रिय कहलाती है।

(घ) हस्तेन्द्रि:- हस्तेन्द्रिय से पुरुष, वस्तु को ग्रहण करने गिराने इत्यादि की क्रियाओं को सम्पन्न करता है।

(ङ) वागेन्द्रिय:- वागिन्द्रिय से पुरुष में बोलने की सामर्थ्य आती है।

पञ्च तन्मात्र और पंचभूत

तमोगुण- प्रधान अहंकार से पञ्चतन्मात्राओं की सृष्टि होती है। ये शब्द[1] स्पर्श[2] रूप[3], रस[4], गन्ध[5] भेद से पाँच प्रकार के होते हैं। तन्मात्र अति सूक्ष्म विषय होते हैं, इन सूक्ष्म विषयों के परिणाम स्वरूप पृथ्वी[5] जल[4], तेज[3], वायु[2] तथा आकाश[1] इन पाँच प्रकार के भूतों की सृष्टि होती है इन पंचभूतों की सृष्टि के अनन्तर गुणात्मक सृष्टि की प्रक्रिया समाप्त हो जाती है। इन गुणात्मक तत्त्वों के संयोग से बनी सृष्टि के सम्बन्ध में सांख्य, शैवदर्शन प्रायः एक मत है। भगवान ईश्वर भट्टारक इस सृष्टि के काम को चलाने के लिये प्रकृति तत्त्व में क्षोभ उत्पन्न करते हुए श्रीकण्ठ नाथ के रूप में प्रकट हो जाते हैं। यह सृष्टि पूर्वकल्प में जीवों के किये हुए कर्मों के अनुसार ही हो जाती है। इस प्रकार की सृष्टि गुणमयी जड़ होती है। ये समस्त इन्द्रियाँ परमेश्वर की चिन्मयता से अनुप्राणित होकर ही अपने अपने कार्य में समर्थ होती हैं।[1]

- -

१- त्वदाशिरासा स्वतुल्यैरपि गुणा ह्यष्टोपमावपि ।
नृत्यन्ति पंचभूताः कार्यान्तक्रियो यथा ।। शिवस्तो० १०।१८

<u>महाप्रलय :-</u>

महाप्रलय की अवस्था में सदाशिव तत्व तक के प्रपञ्च का शक्ति में और शक्तिका शिव में लय हो जाता है। महाप्रलय की बेला में केवल परमशिव ही एक मात्र अभेद तत्व के रूप में अवशिष्ट रहता है। सभी तत्वों का प्रलय- क्रमशः एक दूसरे में लय हो जाता है।

सृष्टि संहारादि की इन क्रियाओं में परमेश्वर की पंचकृत्यों की लीला सतत कार्यशील रहती है। परमशिव को इन कार्यों को सम्पन्न करने में किसी अन्य सहायक की अपेक्षा नहीं होती। ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर और सदाशिव आदि सापेक्षिक देवता गण सृष्टि आदि कार्यों को करने की शक्ति उसी परमशिव से ही प्राप्त होती है। काश्मीर शैव दर्शन में रुद्र को संहार का प्रधान देवता माना गया है।

इस प्रकार सृष्टि, संहार के विभिन्न पहलुओं के विश्लेषण से यह तथ्य सुस्पष्ट हो जाता है। परमशिव ही एक मात्र स्वतन्त्र प्रभु है, जो जागतिक लीलाओं को स्वेच्छा से निरपेक्ष तथा यथावत् चलाता रहता है। ऐसा सब कुछ वह मानों अपने विनोद के लिये ही करता है तभी तो काश्मीर शैव दर्शन के प्रमुख आचार्य उत्पलदेव ने शिव स्तो० में सृष्टि संहारादि को परमेश्वर का विनोद ही निरूपित किया है।[1]

सदा सृष्टि विनोदाय सदा स्थिति सुखासिने ।
सदात्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः ॥

---

1. शिव स्तो० २०।६

कराता है वे जन्म मृत्यु के पाश से मुक्त होकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

इस प्रकार परमेश्वर की पञ्चकृत्यों की यह लीला निरन्तर चलती रहती है। इन लीलाओं को चलाने में वह पूर्ण स्वतन्त्र है। वह अपनी ही स्वतन्त्र इच्छा से समस्त जागतिक क्रीडाओं का अभिनय करता रहता है। जिस प्रकार आकाश में उठे हुए मेघखण्ड उसी में विलीन हो जाते हैं उसी प्रकार समस्त भावराशि क्रमशः निर्मलता को प्राप्त करके तन्मय हो जाती है[2]।

१- कदापि बाधेऽप्यनपि च ते दर्शनार्थं

प्रजेशुः केनापि प्रकृतिमधुराङ्गेन रचिताः

तथाप्यायान्त्याम स्फुट अह तृणादेर्विलसत:

प्रवाहाज्जात्तु स्फुट मवदमु त पुरेमिरिति शिवस्तो १३।३

२- विलीयमानस्तत्रैव क्षणेऽस्मि मेघखण्डा इव

भावा विलीयन्तु मे शरदत्मकोमलगामिन: ,, ५।७

बन्धन , मोक्ष का अवसर तो तभी तक रहता है जब तक जीव अज्ञानावृत रहता है। किन्तु परमशिव के अनुग्रह से, गुरु शास्त्र की कृपा से धीरे २ जब जीव को अपने वास्तविक स्वरूप की पहचान होजाती है तब वह शुद्ध स्वतन्त्र से- परमानन्द मग्न होजाता है यही मोक्ष है परमशिव अपनी ही स्वातन्त्र्य से अपने स्वरूप को छिपाकर अपने को जीवरूप में प्रकट करके बन्धनका पात्र बन जाता है और सांसारिक दु:ख, सुख इत्यादि का अनुभव करने लगता है , धीरे २ अपनी ही इच्छा से वह आत्मज्ञान के प्रकाश से अपनी अनुग्रह लीला के बल पर अपने चिदानन्दघन स्वरूप का स्मरण करके पुन: एकात्मकता को प्राप्त कर लेता है।[1]

इसी प्रकार जीवभाव में प्रकट होता हुआ प्रमाता आणव , कार्म तथा मायीय मलों से घिर जाता है और अज्ञानवश रज्जु में सर्प की प्रतीति की भाँति जड आदि के रूप में सत् समझने लगता है और शरीर आदि को ही अपना आप समझ बैठता है। जीव का यह अज्ञान ही बन्धन का कारण है किन्तु शैव दर्शनका अज्ञान वेदान्त दर्शन के अज्ञान से भिन्न है। शैव दर्शन में अज्ञान ज्ञान का अभाव न होकर ज्ञान का संकोच है। अद्वैतवेदान्त की भाँति सद्- असद् विलक्षण अनिर्वचनीय नहीं है। शैव दर्शन में इसे पौरुष और बौद्ध भेद से दो प्रकार का बताया गया है। यह दोनों प्रकार का अज्ञान गुरु, शास्त्र की कृपा से जब दूर होजाता है। तब जीव अपनी शुद्ध संवित् में स्थित होकर मोक्ष का भागी होता है।

- -

१- भगवान स्वतन्त्र: परमशिव: शुद्धचिदानन्दैकघन लक्षण: स्वस्वातन्त्र्य छलत्वक्रीडाशीलताम आत्मन्येव माहनपूर्व स्वात्मानमेव देहादिप्रमातृतापन्नं विधाय, स्वरूप प्रच्छाद्य च बन्धं विदधाति तथैव पुन: स्वेच्छात् स्वात्मज्ञानप्रकाश क्रमेणा देहादिप्रमातृ तापन्नं निवार्य च र व र्द स्वात्मानं मोचयति - - -

- - - पी० एच० डी० थी०७३-७४

व्यवहार में भी समस्त विश्व को शिवात्मकतया देखने वाला प्राणी समाधिनिष्ठ योगी से श्रेष्ठ है।[1] डा० बलजिन्नाथ पण्डित ने जीवन मुक्त के अतिरिक्त मुक्त-शिव, देहेन्द्रियादि तथा विदेह मुक्त पर भी प्रकाश डाला है। उनके अनुसार मुक्ति के उक्त स्वरूपों को प्राप्त करता हुआ योगी उत्तरोत्तर विदेहमुक्ति की ओर अग्रसर होता जाता है। शैव दर्शन में विदेह मुक्ति ही अन्तिम मुक्ति है। यह सर्वोत्कृष्ट होती है।[2] उत्पलाचार्य जी ने भी अपनी शिवस्तोत्रावली में भी इसी ओर संकेत किया है। उनके अनुसार भी साधक कई प्रकार के होते हैं। तथा उनकी पृथक साधना से होने वाली मुक्ति भी पृथक् २ होती है।[3]

परिपूर्ण मुक्ति:

परिपूर्ण मुक्ति की अवस्था में परिमित प्रमाता, प्रमेय तथा समस्त मानसिक प्रपञ्च विलीन हो जाते हैं केवल पूर्ण अहं, का प्रकाश ही रह जाता है, परिपूर्ण मुक्ति के अवस्था में किसी भी प्रकार का संकोच नहीं होता और न ही किसी प्रकार के मल शेष रह जाते हैं। अतः उत्कृष्ट कोटि के साधक का लक्ष्य इसी प्रकार की मुक्ति को प्राप्त करना होता है। शैव दर्शन इस परिपूर्ण मुक्ति के सम्बन्ध में वेदान्त, सांख्य इत्यादि दर्शनों की अपेक्षा एक भिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, शैव दर्शन में भक्ति और मोक्ष में अनुपूर्व सम्बन्ध स्थापित किया गया है। उसका यह सम्बन्ध भावाद्वैत का है। शैव दर्शन में योगी की अपेक्षा भक्त को एक उत्कृष्ट साधक माना गया है। तथा यह भी बताया गया है कि ऐसे साधक के लिये मोक्ष सुगम होता है। भक्त परमेश्वर के परमानन्दरस में डूबा रहता है। उत्कृष्ट भक्ति को योग की परमा दशा कहा गया है।[4]

१- संसारवर्त्मा ह्याम्ये कैशिवत्वं परिरम्भते।
स्वामिन्नपरेन्दु वनैव साम्यदि स्वच्छन्दमन्त्रणा। शिव स्तो० ९६।२८

२- डॉ बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैव दर्शन पेज ११३

३- भावभूभृत्स्वव केचित्
भेदवंशैकिव परिमुक्तेरा:
केचनापि रविबिम्बि त स्वतो।
भावभदाव वै मुक्तिमुन्नयेतु ।। शिव स्तो० ३।७

४- ज्ञानस्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा।
त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि पूर्णा मे स्यात्तदर्पितना (वही [illegible])

इस प्रकार शैव दर्शन में अपूर्ण ज्ञान को ही बन्धन और पूर्ण ज्ञान को ही मोक्ष कहा गया है।[1] शैव दर्शन में अज्ञान के अभाव को ही मोक्ष कहा गया है।[2] इस दर्शन में मोक्ष की अनेक कोटियाँ तथा उसकी प्राप्ति के अनेकों उपाय बताये गये हैं। मोक्ष के विभिन्न रूपों को इस प्रकार उल्लिखित किया जा सकता है।

<u>जीवन मुक्ति:-</u> जब साधक का अज्ञान ध्यान, चिन्तन इत्यादि उपायों के द्वारा ध्वस्त हो जाता है। वह अज्ञान के बन्धनों को तोड़कर ज्ञान की परिधि में प्रवेश करता है। इस स्थिति में [illegible] का आभास नहीं होता। यह दशा जीवन मुक्त की होती है। इस दशा में पहुँचे हुए प्रमाता को यह समग्र संसार मनोरञ्जन का साधन बन जाता है।[3] जीवन्मुक्त समस्त सांसारिक गतिविधियों से अपना मनोरञ्जन करता है। वह संसार में रहता हुआ बन्धन ग्रस्त प्राणियों पर अनुग्रह करता है। वह शरीर तभी तक धारण करता है जब तक प्रारब्ध कर्म अवशिष्ट रहते हैं। इस प्रकार जीवन्मुक्त की दशा में प्रमाता परमशिव के अविनाशी परिपूर्ण अमृतरस से युक्त स्वरूप में लीन होकर निरन्तर अपनी परमेश्वरता का अनुभव करता रहता है। उसे जीवन मृत्यु का मोह लेशमात्र भी नहीं होता।[4] उत्पलाचार्य जी ने इस प्रकार के साधक को उन्मीलन समाधिनिष्ठ योगी की कोटि में रखा है। उनकी दृष्टि में ऐसा साधक

1- डा० बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैव दर्शन पेज १४९

2- मोक्षस्य नैव किञ्चिद्
धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र ।
अज्ञानग्रन्थिभिदा स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः परमार्थसार कारिका ६०

3- जयन्ति ते जगद्वन्द्या दासास्ते जगतां विभो
संसारार्णव एवैषां क्रीडा महासरः शिवस्तो० ३।१५

4- तावके वपुषि विश्वनिर्भरे। चित्सुधारसमये निरत्यये ।
तिष्ठतः सततमर्चतः प्रभु जीवितं मृतमथान्यदस्तु मे ।। शिव स्तो० १३।३

सदैव परमेश्वर के साथ ऐक्य रखता है। अतः उसकी सदैव परावेश दृष्टि होती है। वह सदैव समस्त वस्तु सब को आनन्द समावेश से परमशिव रूप ही देखता है। अतः वह परिपूर्ण मुक्ति का पात्र होता है।

शैव दर्शन के मत में वेदान्त, सांख्य इत्यादि दर्शनों के अनुसार होने वाली मुक्ति पारमार्थिक मुक्ति नहीं होती। वह मुक्ति सुषुप्ति अवस्था की अस्थायी मुक्ति होती कुछ समय के अनन्तर अर्थात् कल्प सृष्टि के समय उस सुषुप्ति के क्षीण हो जाने पर प्राणी को पुनः जन्म मरण के बन्धन में फंसना पड़ता है।

१- अभिन्न भक्तियोगपरत्वात् वैराग्यतः।
अक्षीबा अपि सदा त्वक्षीबा अपि प्रभो। ॥ शिव स्तो० १-५

२- यो विकल्पमिदं सर्वमण्डलं
पश्यतीश निखिलं भवद्वपुः
स्वात्मपक्ष परिपूरिते जगत्
यस्य नित्य सुखिनः कुतो भयम्।

३- डॉ. बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैव दर्शन पेज १५८-५९
सांख्यवेदादिसंसिद्धान्त श्री कृष्णवादसमुद्रे।
सुषुप्तेव पुनस्तेन न सम्यङ्मुक्तिकारी दृशी ॥ तन्त्रालोक ४।१५२

द्वितीय अध्याय

शक्तियों एवं तत्वों को अपने में समाहित करके एकात्मकतया अवस्थित रहता है और स्पन्दन शीलता के पहलू में वह विश्वमय भाव से अवस्थित रहता हुआ अपने स्वातन्त्र्य से सम्पूर्ण तत्वों को प्रकट और विलीन करता हुआ सृष्टि संहारादि लीलाओं को करता है। पारमार्थिक दृष्टि से वह इन सब गतिविधियों से परे अचल, स्वरूप में रहता है किन्तु फिर भी भेदमयी दृष्टि के कारण वह आभास से विचलित होता हुआ सा प्रतीत होता है। वास्तव में वह प्रकाशविमर्शमय एक ही अनुत्तर तत्व है। वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से विभिन्न रूपों में अवतरित होता रहता है पर अपने वास्तविक स्वरूप में वह चिद्रूप ही होता है। वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही जगत को उन्मीलित करता है।

शैव दर्शन के परमतत्व के स्वरूप, के विवेचन के ही प्रसंग में वेदान्त के परमतत्व के स्वरूप का विवेचन अप्रासंगिक न होगा वेदान्त दर्शन ब्रह्म, को परमतत्व के रूप में स्वीकार करता है। इसीलिये पारमार्थिक दृष्टि से वह ब्रह्म को ही एक मात्र तत्व स्वीकार करता है। वेदान्ती ब्रह्म, के सिवा जगत आदि को माया, अध्यास या भ्रम मात्र मानते हैं। उनका यह स्पष्ट अभिमत है कि यदि व्यावहारिक दृष्टि से ब्रह्मेतर सिवा कुछ है भी, तो उसका अधिष्ठान मूल तत्व भी वह ब्रह्म ही है। छान्दोग्योपनिषद में ब्रह्म के महत्व को बताते हुए कहा गया है :-

येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति,

छान्दोग्योपनिषद ६।१।३

तात्पर्य यह है कि जिससे न सुना हुआ सुना हो जाता है, न माना हुआ मत, हो जाता है, न जाना हुआ ज्ञात हो जाता है। वही ब्रह्म है।

- -

१-स्पन्दनं च किञ्चिच्चलनम् एषैव किञ्चिद्रूपता यत् अचलमपि चलम् आभाति। प्रकाशरूपं हि मनागपि नातिरिच्यते। अतिरिच्यते इव इति अचलमेव आभासभेदयुक्तमेव च भाति। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी

२- वास्तवोऽपि चिद्रूपत्वेनाभिन्नोऽपि भिन्नकालिकत्वेन परामर्श: ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी।। पृ०-६

३-तस्मात् चिद्रूप एव परमेश्वर: स्वेच्छावशात् [illegible]

जिसकी दो प्रकार की व्याख्यायें शांकर भाष्य में मिलती है। पहली व्याख्या लोकदृष्टि से है, जिसमें ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध समुद्र तरंगवत बताया गया है[1]। दूसरी व्याख्या पारमार्थिक दृष्टि से की गयी है। इसके अनुसार ब्रह्म और जगत् का सम्बन्ध महाकाश, घटाकाश एवं मृगतृष्णा जैसा है। वेदान्त के अनुसार जगत माया या भ्रम है और इस भ्रम का भी अधिष्ठान ब्रह्म ही है। जिस प्रकार रस्सी में साँप की प्रतीति होती है, उसी प्रकार भ्रमवश ब्रह्म के भीतर जगत के अस्तित्व की प्रतीति होती है।[2]

अद्वैत वेदान्त में नाम रूप रहित परमतत्व ब्रह्म ही अविद्याकृत नामरूप की उपाधि से युक्त होकर ईश्वर कहलाता है[3]। यह ईश्वर ही ~~उत्पत्ति हेतु~~ जगत आदि का कारण होता है। वस्तुतः अनादि अविद्या या माया ही अद्वय ब्रह्म में ईश्वर और जीव के द्वैत को प्रकट करती है। वेदान्त में ईश्वर जीव दोनों केवल व्यावहारिक सत्य है। किन्तु ईश्वर शासक है और जीव शासित[4]। यह ईश्वर ही अपनी बीज शक्ति माया से जगत की सृष्टि करता है उसे अपनी माया रूपी शक्ति के अलावा किसी बाह्य साधन की अपेक्षा नहीं होती। सृष्टि ईश्वर की लीला मात्र है।

अद्वैत वेदान्त सम्मत परमतत्व के स्वरूप, उसके जगत आदि के सम्बन्धों पर विचार करने के अनन्तर यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। कि वेदान्त और काश्मीर शैवदर्शन के परमतत्व सम्बन्धी विचारों में बहुत बड़ा वैषम्य है। अद्वैत वेदान्त परमशिव की भांति ब्रह्म को नित्य,

- -

1- ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य २-१-१३

2- अपरोक्षानुभूति -४४

3- स्वनाविद्याकृत नामरूपोपाध्यनुरोधि ईश्वरो भवति — ब्रह्मसूत्र शा० भा० २।१।१४

4- ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी जे० एन० सिंह वाल्यूम II पे०५०८ कलकत्ता १९५२

5- लोकवत्तु लीला कैवल्यम् ब्रह्मसूत्र २।१।३३

परमशिव चिदानन्दघन है और उसी का चित, आनन्द इच्छा, ज्ञान एवं क्रिया शक्ति के प्रतिबिम्ब स्वरूप आभासमान यह जगत् भी पारमार्थिक दृष्टि से विशुद्ध एवं आनन्दस्वरूप है, किन्तु फिर भी आणव आराव, मायीय एवं कार्म मलों से आवृत हो जाने के कारण मलिन स्वभाव होकर सुख दुःखादि का पात्र बना रहता है। यह सब परमेश्वर के स्वातन्त्र्य से ही होता है उसका यह स्वभाव ही है। वह स्वभावत: तिरोधान एवं अनुग्रह लीला के द्वारा इस जगत रूपी नाटयमंचपर सफल अभिनय करता रहता है। इस संसार में भ्रमण करनेवाले अन्यान्य जीवों में से कोई तो उसके अनुग्रह का पात्र होकर परमानन्द का रूप सुख का अनुभव करता है और कोई उसके तिरोधान कृत्य के परिणाम स्वरूप बन्धन गृस्त होकर भेदकालुष्य युक्त होकर परिणामस्वरूप बन्धनगृस्त होकर भेदकालुष्य युक्त होकर दुःख का अनुभव करता है। जिसप्रकार एक घटके धूम धूसरित होनेपर अन्य घट मलिन नहीं होते उसी प्रकार एक ही समय में कोई जीव बन्धन ग्रस्त होता है। तो कोई मोक्षानुभावी होता है। इन सभी स्थितियों को परमशिव अपने स्वातन्त्र्य से चलाता है। यह सब उसके स्वभाव की विविध प्रकार की अभिव्यक्तियाँ होती है।[1]

यह स्पष्ट परिलक्षित है कि अणु भाव में प्रकट होता हुआ प्रमाता बन्धन का पात्र हो जाता है और इस प्रकार मुमुक्षु शरीरादि को अपना आप समझने लगता है यह सब परमेश्वर के परिपूर्ण स्वातन्त्र्य से उसी की इच्छा के कारण अपने स्वरूप की पहचान न होने के कारण। अब प्रश्न यह उठता है कि जीव किन आध्यात्मिक मार्गों का अनुसरण करता हुआ परमेश्वर के अनुग्रह का लाभ प्राप्त करता है। इस सम्बन्ध में काश्मीर शैव दर्शन में सुगम एवं कष्ट साध्य दोनों ही मार्गों की चर्चा की

१- एकस्मिन घटगगने
रजसा व्याप्ते भवन्ति न अन्यानि।
मालिनानितद्वदेवं।
जीवा: सुखदु:ख भेदयुक्ता: ।। परमार्थसार ३७

दोनों ही अवस्थाओं में परमात्मसाक्षात्कार के लिये परिपूर्ण अनुग्रह की आवश्यकता होती है।[1]

इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि परमेश्वर अपने ही स्वातन्त्र्य से जब अपनी स्वतन्त्र इच्छा से अपने वास्तविक स्वरूप को भुलाकर जीव रूप में प्रकट होकर बाराबार महों से फिर कर सांसारिक लीला को चलाने के लिये बन्धन का पात्र बन जाता है। और कभी अपने स्वरूप को पहचान कर शिवैकता को प्राप्त करने मोक्ष का पात्र होता है। ऐसा करना उसका स्वभाव है किन्तु उत्कृष्ट मोक्ष की प्राप्ति के लिये उसका अनुग्रह अत्यन्त आवश्यक है, बिना अनुग्रह के शिवैकता की प्राप्ति हो नहीं सकती। आचार्य उत्पलदेव ने परमेश्वर के इस तीव्र अनुग्रह की प्राप्ति के लिये भक्ति को सर्वोच्च स्थान प्रदान करके परमशिव को परम् सरल स्वभाव निरूपित करने का प्रयास किया है।

त्वत्प्रभुत्वां त्वयि क्वापि हारया ।
राग एव परिपोषमागत: ।।
यत्प्रियेण मुपि संभूया तथा
हंस्मृति: पातति संमोत्सवम् ।।

शिवस्तो० ४।१२

चित्-आनन्द
परमशिव मुख्यतया चित्, आनन्द, इच्छा ज्ञान एवं क्रिया इन पांच शक्तियों से युक्त होकर स्वभावत: सृष्टि संहारादि लीलाओं को चलाता रहता है।

यद्यपि वह अनन्त शक्तियों का भोक्ता है तथापि प्रधानतया वह उक्त पांच शक्तियों के द्वारा ही अपने परिपूर्ण स्वातन्त्र्य से ब्रह्मा, रुद्र इन्द्रादि[2] के द्वारा सांसारिक क्रिया कलापों को सम्पन्न कराता रहता है।

१- भक्त्यमविच्छेद एव दोष- स्तव जातोऽस्मि परस्य नाथ शक्ति:
कथमेष तथापि भक्तविम्बं तव पश्यामि नमामि चिन्तयेयु।। शिवस्तो० १२।२६

२- क- अनन्तशक्ति अप्रमेया: तन्त्रसार आह्निक ४
ख- मुख्याभि: (पंचभि: शक्तिभिर्युक्त: वही ।। ।
ग- परमेश्वर: पंचभि: शक्तिभिर्निर्भर: वही ।।
घ- शिव: स्वतन्त्रदृग् पूर्ण: पंचशक्तिसुनिर्भर: । तन्त्रालोक ६।४८

विश्वोत्तीर्णता और विश्वात्मकता

यह तथ्य पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि परमशिव के मुख्यतया दो पहलू हैं। एक पहलू विश्वोत्तीर्णता का है और दूसरा विश्वात्मकता का है। उसके इन दोनों पहलुओं को शिव शक्ति, एवं प्रकाश-विमर्शात्मक पहलू भी कहा जा सकता है। परमशिव अपने इन्हीं दोनों पहलुओं के माध्यम से कभी तो शिव रूप में अर्थात विश्वोत्तीर्ण दशा में अवतीर्ण होता है और कभी विश्वमय दशा में अर्थात् परमशक्ति दशा में अवतीर्ण होते हुए नाना रूपों में अवस्थित होकर विश्व की लीला को चलाता है।[1] परमशिव के विश्वमयता का पहलू बहिर्मुख स्पन्दन शील पहलू होता है। वस्तुतः उसके इन दोनों पहलुओं में कोई भेद नहीं होता। वह अपनी लीला को चलाने के लिये ही इन दोनों रूपों में अपने स्वातन्त्र्य से विभक्त हो जाता है। वस्तुतः वह समस्त शक्तियों का एक मात्र स्रोत होता है।[2]

परमशिव विश्वोत्तीर्ण दशा में परिपूर्ण संवित् स्वरूप चिदानन्द घन स्वरूप होता है। किन्तु विश्वमय दशा में जब परमेश्वर की आनन्द-मयी लहरों का स्पन्दन होता है, तो वह अग्नि चन्द्रमा, सूर्य ब्रह्मा, नारायण रुद्र, पर्वत मनुष्यादि विविध रूपों को धारण करके मायीय आवरणादि मलों से आवृत हो जाता है। यह सब कुछ उस परमशिव के स्वातन्त्र्य से ही होता है।[3] विश्वमय दशा में परमशिव स्वरूप वैचित्र्य के कारण आन्तरिक ज्ञान दशा के उद्रेक से सदाशिव तत्त्व

- -

१- श्री मत्परमशिवस्य पुनः विश्वोत्तीर्ण- विश्वात्मक परमानन्दमय प्रकाशैकघनस्य ---- अखिलम् अभेदेनैव स्फुरति न तु वस्तुतः अन्यत् किंचित् ग्राह्यं ग्राहकं वा, अपितु श्रीपरमशिव भट्टारक एवं इत्थं नानावैचित्र्य सहस्रैः स्फुरति प्रत्यभिज्ञाहृदय - पे० ८

२- गिरा माद्यात्मवर्णोदहनीति परा भट्टार्य लिपदं। [illegible] विनष्ट [illegible]। स्वस्वरूप [illegible] निज [illegible]। तदङ्कैः परमशिवे [illegible] ।। भास्करी भाष्ये १ पे० १

३- अग्निचन्द्रार्क ब्रह्मविष्णुस्थावर जङ्गमं। स्वरूप बहुरूपाय नमः संविन्मयाय ते ।। शिवस्तो० २।१

ईश्वर तत्तव को जन्म देकर उससे विविध प्रकार की सांसारिकी अनुबुद्धि सृष्टियों की रचनादि कार्यों को करवाता रहता है।[1]

विश्वोत्तीर्ण दशा में परशिव की स्थापना होती है। इस दशा में विकल्पवृत्तियाँ पूर्णतया समाप्त हो जाती हैं। तात्त्विक दृष्टि से इस दशा में शिव एवं परमशिव के मध्य कोई भेद नहीं होता। यह स्थिति परिपूर्ण ऐक्य की स्थिति होती है। दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि विश्वोत्तीर्णता की दशा शिव शक्ति सामरस्य, की दशा होती है। इस समरसता की स्थिति उत्पन्न करने में परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति ही समर्थ है। अन्य किसी की सामर्थ्य नहीं है। इस दशा में शिव भाव की प्रधानता होती है। किन्तु विश्वमयता की दशा में शक्ति दशा की प्रधानता होती है। पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर उसके इन दोनों रूपों में कोई भी भेद नहीं होता है।[2] और यह ठीक भी है क्योंकि वस्तुतः वह एक ही तत्त्व है वही एक तत्त्व विश्वोत्तीर्णता की दशा में और विश्वमयता की दशा में दोनों ही तरह से अवस्थित होता रहता है। ऐसा करना उस परमेश्वर का स्वभाव है। जब वह परमेश्वर विश्वमय दशा में अवतीर्ण होता है तो क्रमशः विविध प्रकार की भेदप्रथा से युक्त होकर संसारी कहलाता है किन्तु वही जब तत्त्वज्ञान के अनन्तर अपने भुलाये हुए स्वरूप को पहचान कर विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय उभयथा परिपूर्ण हो जाता है। तो शिव और मुक्त कहलाता है

१- चिन्मयान्तरवस्थितेकात् सादाख्यं तत्त्वमाश्रितः ।
बहिरिव विश्वरूपेषु परतः पारमेश्वरम् ।। (ई० प्र० ३।१-२)

२- क्वचिदेव भवान् क्वचिद्भवानी सकलार्थक्रमरूपिणी प्रधाना
परमार्थपदे तु नैव देव्या
भवतोनापि जात्वस्य भेदः ।। शिवस्तो० १८।२

विश्वोत्तीर्णता इस की दशा में परमेश्वर एक मात्र शुद्ध संवित् स्वरूप परिपूर्ण अहं परामर्श, अर्थात् परिपूर्ण अहंता, से युक्त होता है। इस दशा में भेदात्मकता का नाम भी नहीं होता।[1]

परमशिव का विश्वमय दशा में अवतीर्ण होना मुख्यतः उसकी सृष्टि संहारादि की क्रीड़ा को बढ़ाने का परिचायक है निर्मित-इच्छा शक्ति-आदि-शक्तियों-के-स्पन्द- है। परमशिव जब विश्वमयता की ओर उन्मुख होता है तो उसकी चित् निवृत्ति इच्छा, ज्ञान, आदि शक्तियों के स्पन्दन से शिव, शक्ति, सदाशिव ईश्वरादि तत्वों का आविर्भाव होता है जिससे विशुद्ध सृष्टि होती है, विशुद्ध सृष्टि परमेश्वर का स्वभाव होती है, यह पहले ही बताया जा चुका है। विशुद्ध सृष्टि के अनन्तर अशुद्ध सृष्टि की रचना होती है, किन्तु यह सृष्टि भगवान अनन्तनाथ के द्वारा होती है। भगवान अनन्तनाथ के द्वारा होने

बरुठ

वाली यह सृष्टि मूलतया परमशिव की प्रेरणा से होती है। सृष्टि के इस भेद के कारण ही पति और पशु दो प्रकार के प्रमाता भी होते हैं। पतिप्रमाता को भेदाभेद दृष्टि होती, जब कि पशु प्रमाता माया जन्य बन्धन से युक्त होने के कारण विविध प्रकार के क्लेशों से युक्त होते हुए परिपूर्ण भेद की स्थिति वाले होते हैं।[2]
विश्वमय दशा में अवतीर्ण हुआ परमेश्वर अपनी अनन्त शक्तियों को अनन्त रूपों में अभिव्यक्त करता है यह वह अपने परिपूर्ण स्वातन्त्र्य से अपनी स्वतन्त्र इच्छा से करता है।[3] तभी तो आचार्य उत्पलदेव ने

- -

१- महाप्रकाश नौमि रूपं ते स्वच्छशीतलम्। अपूर्वामोदसुभगं परामृत तरङ्गोल्ल-रागम्।। शिवस्तोत्रावली २।२६

२- स्वाङ्गरूपेषु भावेषु प्रमाता कथ्यते पतिः
मायातो भेदिषु क्लेश कर्मादिकलुषः पशुः ।। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ----

३- एष चानन्त शक्तित्वा,
एवमाभासयत्यमून् ।
भावानिच्छावशादेषां,
क्रियानिर्मातृतास्य सा।। वही २।४।१

माना गया है। यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है। वेदान्त
के ब्रह्म को सृष्टि आदि कार्यों से कोई प्रयोजन नहीं होता [illegible]
वह सर्वथा शान्त और जड़ तुल्य है अत: वेदान्त के ब्रह्म का विश्वमयता
से कोई सम्बन्ध नहीं होता तथापि विश्वमयता की स्थिति से परे
होने के कारण वेदान्त का मुक्तात्मा काश्मीर शैव दर्शन की भाँति
ब्रह्म के साथ एकात्मकता तो प्राप्त करता है।[1] किन्तु शैव दर्शन की
भाँति वह मुक्तात्मा प्रकाश विमर्शात्मक परिपूर्ण ऐश्वर्य को प्राप्त नहीं
कर पाता है क्योंकि मुक्त होने के बाद ब्रह्म की ही भाँति वह
जीव शान्त स्वभाव वाला हो जाता है। इस प्रकार वेदान्त में ब्रह्म को
विश्वोत्तीर्ण माना गया है। किन्तु विश्वमय नहीं। सृष्टि आदि की
रचना के प्रसंग में वेदान्त का यही कह कर शान्त हो जाता है कि वस्तुत:
जन्म होता ही नहीं संसार में जिस भी वस्तु का जन्म देखा जाता है
वह तात्त्विक नहीं अपितु मायिक है[2] रज्जु आदि सद् वस्तु में सर्प इत्यादि
की भ्रान्ति के समान है वेदान्त का अभिमत है कि यह ब्रह्म वस्तुत:
अनुत्पन्न रहकर भी माया द्वारा अनेक रूप से उत्पन्न किया जाता है[3]
किन्तु सृष्टि के पहले एवं बाद में एक ही सत्ता अर्थात् ब्रह्ममात्र ही

१- छान्दोग्योपनिषद् ६।८।७

२- यस्मात् सतोहि विद्यमानात् कारणात् मायानिर्मितस्य हस्त्यादिकार्यस्य
जन्म युज्यते---- अथवा सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादे:
सर्पादिवन्मायया जन्म युज्यते माण्डूक्य कारिका ३।२७का शां०भा०

३- नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु स: वही ३।२४

शेष रहता है।[१] यह सृष्टि न तो आदि में सत्य है और न अन्त में एक मात्र ब्रह्म ही सत्य है इस प्रकार विश्वमयता की दशा में होने वाली सृष्टि आदि वेदान्त की दृष्टि में एकमात्र भ्रान्ति एवं भ्रान्ति होती है। जिस भ्रान्ति का मूलकारण उसकी अनिर्वचनीया अविद्या है किन्तु शैव दर्शन के अनुसार तात्त्विक दृष्टि से जगत परमशिव ही है। अतः सत्य है यह परमेश्वर की स्वातन्त्र्य लीला का ही विलास है।

अद्वैत वेदान्त की यह धारणा कि सत् वस्तु का परिणाम सत् में ही हो सकता है। किन्तु जगतादि तो नश्वर हैं अतः यदि ब्रह्म से जगत की उत्पत्ति मानी जायेगी तो ब्रह्म भी नश्वर एवं संकुचित शक्तियों वाला होगा जो कि सर्वथा अनुपयुक्त है। इस प्रकार वेदान्त की दृष्टि में जगत का परिणाम ब्रह्म से नहीं अपितु माया से ही है। सम्भवतः परिणामवाद के इसी आरोप से बचने के लिये ही आचार्य शंकर ने ब्रह्म को सर्वथा शान्त स्वरूप निरूपित किया है। और सृष्टि आदि का सम्पूर्ण भार अनिर्वचनीया माया से उपहित चैतन्य को सौंप दिया है। किन्तु ब्रह्म के सर्वथा शान्त होने की स्थिति में वेदान्त भी शून्यवादी बौद्धों के ही समान हो जाता है। क्योंकि अकर्तृत्व तो उसका स्वभाव होता है। तभी तो आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे शून्यवाद के समीप ठहरा हुआ ब्रह्मवाद माना है।[२]

सांख्य दर्शन मे काश्मीर शैव दर्शन की भांति सत्कार्यवाद माना गया है। किन्तु दोनों दर्शनों में सत्कार्यवाद के प्रतिपादन में पर्याप्त मौलिक विभेद है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार परमशिव के प्रकाश विमर्शात्मक स्वरूप के भीतर समस्त जगत् बीज रूप या विद्यमान ही रहता है। तभी उससे अखिल विश्व की सृष्टि हो जाती है।

१- सदेव सौम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्। छान्दोग्य उप० ६।२।१

२- काश्मीर शैव दर्शन डॉ० बलजिन्नाथ पण्डित पृ०-५०

शैव दर्शन के इस वाद [illegible] उसमें जगत् शक्ति के रूप में रहता है। तात्पर्य यह है कि परमशिव में यह सामर्थ्य है कि वह स्वयमेव जगत् के रूप में भी प्रकट हो जाता है। परन्तु जगत के आकार में उसका परिणाम नहीं होता है। वह सृष्टि के होते हुए भी सदैव अपने शुद्ध संवित्स्वरूप में ही अविचलतया ठहरा रहता है, जरा भर भी उससे च्युत नहीं होता उसकी इच्छा से उसी की शक्तियाँ उसी के भीतर जगत को प्रतिबिम्ब न्याय से प्रकट करती हैं परिणाम से नहीं को सत्कार्यवाद के नाम से जाना जाता है सांख्य के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि त्रिगुणात्मक प्रकृति या प्रधान का कार्य है और प्रकृति स्वयमेव अपने ही स्वभाव से सृष्टि की रचना दो उद्देश्यों से करती है। एक तो स्वभावतः मुक्त पुरुष को मुक्ति दिलाने के लिये और दूसरे जीव को कर्मफल का भोग कराने के लिये।[1] यहाँ पर एक प्रश्न उठ सकता है कि जब पुरुष मुक्त स्वभाव है तो उसके बन्धन का प्रश्न ही नहीं उठता इसके उत्तर में सांख्य का कथन है कि प्रधान या प्रकृति की कार्यबुद्धि के सानिध्य के कारण पुरुष अज्ञानवश अपने में उन २ कर्मों कार्यों का आरोप करके अपने को अल्पज्ञ, अल्पशक्तिमान समझते हुए बन्धनग्रस्त हो जाता है।[2] सांख्य के अनुसार कारण से कार्य भिन्न नहीं होता

- -

१- विमुक्तविमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य - सां सू० २।१

२- स्वाभाविकाद् दुःखबन्धाद्विमुक्तस्य पुरुषस्य प्रतिबिम्बकदुःखमोक्षार्थं प्रतिबिम्ब सम्बन्धेन दुःखमोक्षार्थं वा प्रधानस्य जगत्कर्तृत्वं ~~प्रतिबिम्ब सम्बन्धेन दुःखमोक्षार्थं~~ सांख्यस्य।

सकता[1]। इसी लिये निश्चित कारण से निश्चित कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसे मिट्टी से घट, तिलों से तेल इत्यादि की प्राप्ति होती है।

काश्मीर शैव दर्शन में भी प्रकृति के इस परिणाम के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है परन्तु दो अंशों में सांख्य से उसका मत भेद है (१) शैवों ने प्रकृति में स्वतः प्रवृत्ति को न मान कर भगवान श्री कृष्ण नाथ को उस का प्रेरक माना है। (२) शैवों ने प्रकृति से ऊपर ठहरे हुए छः कञ्चुक तत्वों और शुद्ध विद्या से शिव तक के पांच शुद्ध तत्वों को भी माना है।

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार अखिल विश्व परमशिव की चिद्घन दशा की अभिव्यक्ति किन्तु परिणाम नहीं। सांख्य अखिल विश्व की सृष्टि जड़ प्रकृति का परिणाम मानता है जबकि शैव दर्शन के अनुसार यह सच्चिदानन्द घन स्वरूप परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का प्रतिबिम्ब है वस्तुतः उससे भिन्न कुछ है भी नहीं[2]। शक्तित: के स्फुट आवेश में जब परमेश्वर अपने स्वरूप को भुलाकर आणवमलावृत हो जाता है तब वह जीवदशा में अवतरित हो जाता है। पुनः गुरु, शास्त्रादि की कृपा से अपने स्वरूप को पहचान कर वह शुद्ध शिव दर्शन भाव में अधिष्ठित हो जाता है। यही उसकी जीवता और शिवता है। इन दोनों क्रियाओं को करते रहना उसका स्वभाव है। इस प्रकार वास्तविक दृष्टि से

- -

१- नहि कारणादभिन्नं कार्यं कारणं च सदिति कथं तदभिन्नं कार्यमसद् भवेत्। तत्त्वकौमुदी

२- न च विभिन्नमभूज्जगत किञ्चन।
सत्यथ पुनरेतरदत्र न निश्चितम्।
क्व च सुःखि च भेदि च सर्वथा
प्रथनविभ्रम धाम नमोऽस्तु ते।। शिवस्तो०१८।१८

काश्मीर शैव दर्शन में सत सदैव जायते। का सिद्धान्त पूर्णत: परि-लक्षित होता है। दूसरी बात यह है कि सांख्य के अनुसार नित्य प्रधान से महत् आदि कार्य वैसे ही निकलते हैं जैसे मिट्टी के पिण्ड से घड़ा निकलता है। चूंकि मृत्पिण्ड नश्वर है अत: प्रधान को भी नश्वर होना चाहिए। किन्तु शैवदर्शन में परमशिव से ही सभी वस्तुएं उत्पन्न होती हैं और उसी में विलीन होती हैं। परमशिव सच्चिदानन्दघन स्वभाव है अत: उसमें वेदान्तियों द्वारा किये गये सत्कार्यवाद के खण्डन का यह तर्क कि अब न सत उत्पन्न होता है न असत् और न सदसत् तो फिर इनमें भी अजातवाद ही प्रतिष्ठित होता है।[1] निराधार हो जाता है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार जीवन्मुक्त प्राणी का यह समझना कि मैं वस्तुत: एक मात्र शुद्ध संवित् स्वरूप हूं, उसकी विश्वोत्तीर्णता होती है न कि बन्धन द्वार विश्वोत्तीर्णता की इस स्थिति के बाद जबवह यह समझने लगता है कि सारा ब्रह्माण्ड भी मैं ही हूं, तो यह उसकी विश्वात्मकता की दशा होती है।

आचार्य उत्पलदेव ने शिवस्तो० में परमेश्वर के विश्वोत्तीर्ण भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है।[2]

> महाप्रकाशवपुषि विस्पष्टे भवति स्थिते ।
> सर्वतोऽपीश तत्कस्मादसि प्रार्थ्यसम् ।।

यहां पर भक्त साधक कहता है कि हे परमेश्वर! आप महाप्रकाश स्वरूप तथा पूर्णरूप में प्रकटस्वरूप अर्थात विश्वप्रकाश रूप हैं यह तो मैं जान गया किन्तु फिर भी मैं अभी अज्ञान सम्बन्धी दोषों से मुक्त हूं तात्पर्य यह

- -

1-भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिन: केचिदेव हि
अभूतस्यापरे धीरा विवदन्त: परस्परम् ।
भूतं न जायते किञ्चिदभूतं नैव जायते
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते ।। माण्डूक्य कारिका

है कि साधक परमेश्वर के विश्वोत्तीर्णभाव तक तो पहुँच गया है किन्तु विश्वमय भाव में अवस्थिति होने के लिये लालायित है। इसी सन्दर्भ में एक अन्य स्थल पर आचार्य महोदय[1] ने परमेश्वर के विश्वोत्तीर्णभाव को सुस्पष्ट करते हुए कहा है।

सदसत्त्वेन भावानां युक्ता या द्वितीया गतिः।
तामुल्लङ्घ्य तृतीयस्मै नमश्चित्राय शम्भवे।।

तात्पर्य यह है कि सांसारिक वस्तुओं की सदसत् अवस्था परमेश्वर के विश्वोत्तीर्ण भाव के चमत्कार से ही होती है। विश्वोत्तीर्णभाव पर स्थित जीवन्मुक्त प्राणी को परमेश्वर की लीला का आभास होता रहता है, फिर तो वह उसके स्वातन्त्र्य के चमत्कार का पग २ पर अनुभव करता हुआ आनन्दित होता रहता है।[2] इस प्रकार के जीवन्मुक्त प्राणी को साधना के उच्चार, करणादि उपायों की लेशमात्र भी अपेक्षा नहीं रहती क्योंकि वह परमेश्वर के साथ परिपूर्ण एकात्मता की प्राप्ति में इतना तल्लीन रहता है कि ध्यान आदि की क्रिया उसे विस्मृति-विस्मरित सी होती जाती है।[3] उसकी दृष्टि तो परमेश्वर के प्रकाश विमर्शमय चिदात्मिक स्वरूप की सहजता की दशा को प्राप्त करने में ही लगी रहती है। अतः वह विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक इन दोनों

१- वही ३।१

२- स्वातन्त्र्यामृतपूर्णत्वमदैश्वख्यातिमहापटे।
चित्रं नास्त्येव यत्रेश तन्नौमि तव शासनम्।। शिवस्तो० २।२७

३- समस्तलक्षणायोगः एव यस्योपलक्षणम्।
तस्मै नमोऽस्तु देवाय कस्मैचिदपि शम्भवे। वही २।६

पदार्थों में अवस्थित रहते हुए भी स्वरूप साक्षात्कार के लिये हमेशा उद्यत बना रहता हूं।

शिवस्तो० में विश्वमय दशा की भी स्फुटतमभिव्यक्ति हुयी है। विश्वोत्तीर्ण भाव में अवस्थित जीव जब यह समझने लगता है कि पृथ्वी से लेकर सदाशिव पर्यन्त यह अखिल विश्व मैं ही हूं तो यह उसका विश्वमय भाव होता है।[1]

> किमप्यतु । स्ववपुर्भवदात्मकं
> समुच्यान्तु जाग्नि ममाकृताम् ।
> प्रभुत्वमिदं अवचलितं
> स्मृ तिपर्वोकामेष्वप्यनुपात्ययताम् ।।

विश्वमय भाव की स्थिति परिपूर्णता की स्थिति होती है। जीवन्मुक्त होने के बाद जीव अखिल विश्व में यहां तक कि तिनकों तक में परिपूर्ण शिवभाव को ही देखना चाहता है। उसकी जिज्ञासा उत्तरोत्तर तीव्र ही होती जाती है। आचार्य उत्पलदेव ने इसी भाव को बहुत सुन्दर शब्दों में स्पष्ट किया है[2]

> अन्तर्भक्तिचमत्कार चर्वणामीलितेक्षण:
> नमो मह्यं शिवायेति पूजयन् स्वां तृणान्यपि ।।

यहाँ पर 'नमो मह्यं शिवायेति' पद परिपूर्ण ऐक्य की अवस्था अर्थात्

१- हे भगवान मेरी आत्मा आपका स्वरूप होकर सिकुड़े पृथ्वी से लेकर सदाशिव तत्त्व तक के सारे लोक मेरे अंकन आये यह सारा भेदप्रथम का विकास याद पड़ने पर भी मुझे सर्वथा भूल जाये वही । ८।७

२- शिवस्तो -५।१५

विश्वात्मकता की अवस्था की ही द्योतक है क्योंकि जब साधक यह समझने लगेगा कि मैं साक्षात् शिव ही हूं। तब तो भेद प्रथा का समूलोच्छेदन हो जायेगा और भेद प्रथा के नष्ट होते ही अखिल विश्व शिवमय हो जायेगा। इसीलिये तो शिवस्तो० सर्वत्र में सर्वत्र साधक की यही साध रहती है। कि जिस प्रकार उसको यह ज्ञान हो गया है कि संसार के सदसद् पदार्थ पारमार्थिक दृष्टि से शिवरूप ही है उसी प्रकार उसे अब शिव के साथ समावेश एवं व्युत्थान इन दोनों ही दशाओं में ऐक्य का अनुभव हो।[1]

सर्वमस्त्यपरमस्ति न किंचित्
वस्तवस्तु यदि वेति महत्या ।
प्रज्ञया व्यवसितोऽस्मि यथैव
स्यां तथैव भव सुप्रकटो मे ।।

इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि परमशिव अपने परिपूर्ण स्वातन्त्र्य से अपनी प्रकाशात्मक ज्ञानरूपता के कारण कभी तो विश्वोत्तीर्ण दशा में अधिष्ठित रहता है और कभी विमर्शात्मक क्रियारूपता की प्रधानता के कारण विश्वमय दशा को प्राप्त हो जाता है दूसरे शब्दों में कह सकते हैं। कि परमशिव में कभी तो शिव भाव की प्रधानता होती है और कभी शक्ति भाव की इसी तथ्य को आचार्य उत्पल देव ने शिवस्तो० में इस प्रकार स्पष्ट किया है[2]

क्वचिदेव भवान् क्वचिद्भवानी।
सकलार्थक्रमगामिनी प्रधाना ।
परमार्थपदे तु नैव देव्या ।
भवतो नापि कदाचनास्य भेद: ।। शिव स्तो० १८।२

१- वही ३।१०

२- शिवस्तो० १८।२

पंचकृत्य स्वातन्त्र्य

स्वातन्त्र्यामृत पूर्णत्वमैश्वर्यमतिमकापटे ।
चित्रं नास्त्येव यस्येह क्वापि तव शासनम् ।। शिव स्तो० २।२७

यहतयुक्त पहलेही स्पष्ट किया जा चुका है कि काश्मीर शैव दर्शन में जगत् एवं उससे सम्बंधित कार्यव्यापार परमशिव की स्वातन्त्र्य लीला मात्र है। वह इन क्रिया व्यापारों को चलाने के लिये मुख्यतया पाँच प्रकार के ईश्वरीय कार्य करता है, जिन्हें इस दर्शन में पञ्चकृत्यों के नाम से अभिहित किया जाता है। सृष्टि, स्थिति, संहार, पिधान, और अनुग्रह ये पंचकृत्य हैं, जिन्हें परमेश्वर क्रमश: अपने स्वातन्त्र्य से चलाता है। उसके इन पञ्चकृत्यों में सृष्टि स्थिति और संहार का क्रम निश्चित है और चक्रवत् चलता रहता है। पिधान और अनुग्रह कृत्य तो इन तीनों ही कृत्यों के भीतर और विशेषकर स्थिति की अवस्था में घुटचाक के खेल की भाँति चलते रहते हैं। सृष्टि और संहार रूप कृत्य तो तत्वों की सृष्टि और संहार तक ही चलते हैं किन्तु पिधान कृत्य तत्वों की स्थिति के भीतर होता रहता है।

परमेश्वर के पंचकृत्यों की इस लीला का प्रथम चरण उसके सृष्टि रूप कार्य से प्रारम्भ होता है जब चिदात्मा परमशिव अपने स्वातन्त्र्य से प्रारम्भ होता है जब चिदात्मा परमशिव अपने स्वातन्त्र्य से अभेद व्याप्ति को संकुचित करके भेद दशा में अवतरित होता है तब वह मलों से आवृत होकर संसारी हो जाता है।[1] उसका यह मूल स्वरूप गोपन ही सृष्टि का प्रथम चरण है। स्वरूप के अत्यल्प गोपन के द्वारा

१- चिद्वत्तच्छक्तिसंकोचात् मलावृतः संसारी प्रत्यभिज्ञाहृदय- ६

का समावेश प्राप्त करता है। तब वह प्रत्येक वस्तु को परमेश्वर का ही स्वरूप समझता है।[1]

परमेश्वर इन पंचकृत्यों की लीला को चलाने के लिये पांच रूपों में प्रकट हो जाता है। उसके ये रूप क्रमशः ब्रह्मा विष्णु ईश्वर और सदाशिव नाम से जाने जाते हैं।[2] परमेश्वर का इस आत्म लीलाओं में पूर्वोक्त देवता गण क्रमशः सृष्टि संहारादि के कार्य में प्रवृत्त रहते हैं। डा० बलजिन्नाथ पण्डित के अनुसार काश्मीर शैव दर्शन के में ब्रह्माण्डों की संख्या अनन्त है।[3] फलतः ये ब्रह्मादि देवता भी अनन्त होते हैं।

यथा तथापि यः पूज्यो यत्रतत्रापि योऽपि वा: ।+
योऽपि वा सोऽपि वा योऽसौ देवस्तस्मै नमोऽस्तु ते ।।

एक अन्य स्थल पर आचार्य उत्पलदेव ने परमेश्वर को ब्रह्मा से लेकर सदाशिव पर्यन्त सभी तत्वों का एकमात्र स्वामी निरूपित किया है। उनके अनुसार ब्रह्मादि देवता किसी क्षेत्र विशेष के ही ईश्वर होते हैं। किन्तु परमशिव तो विशुद्ध अशुद्धादि सभी सृष्टियों का एक मात्र स्वामी होता है क्योंकि उन २ सृष्टियों के अधिष्ठाता ब्रह्मादि-देवता उसी के द्वारा ही उत्पन्न किये जाते हैं।[4]

आचार्य उत्पलदेव के अनुसार सर्वातिशायी वह परमेश्वर कभी

- -

१- भवदावेशत: पश्यन् भावं भावं भवन्मयं ।
विचरेयं निराकांक्ष: प्रहर्षपरिपूरित: ।। शिवस्तो० ४।५

२- ब्रह्मेन्द्र विष्णुनिर्व्यूढ जगत्संहारकेलये ।
आश्चर्य करणीयाय नमस्ते सर्वशक्तये ।। शिवस्तो० २।१२

३- डा० बलजिन्नाथ पण्डित काश्मीर शैवदर्शन पृ० ७०

४-शिवस्तो० २।१०

५- तद्रूपपदेमवन्तं ।
सततमुपरडोक्येमत्युच्च: ।
हरिहरविरिञ्चा

चराचरजगत कोआत्मा है तो फिर आणव मायीय एवं कार्म मलों से निवृत्त हुआ समावेश वाला प्रत्येक साधक में उसी परमेश्वर के समान शक्ति का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। शिवस्तो० १३।७ से के

त्वमेवात्मेश सर्वस्य ।

त्वमेवात्मेश सर्वस्य सर्वश्चात्मनि रागवान् ।
इति स्वभावसिद्धां त्वदर्चित जानञ्जयेज्जन: ।।

इत्यादि पंक्तियों से भी यही तथ्य स्पष्ट होता है कि ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में भी इसी तथ्य की ओर संकेत किया गया है। उसके अनुसार व्यवहार दशा में भी परमात्मा ही अपने स्वातन्त्र्य से ग्राहकरूपेण आभासित होता है[1]। अत: पञ्चविध परमार्थतया भेद कालुष्य विहीन जीव परमेश्वर के ही समान आचरण करता है, इसमें सन्देह नहीं है। इतना अवश्य है कि इस प्रकार की पंचविधकृत्यकारिता प्रत्येक जीव के पास रहती हुई भी तब तक प्रकाशित नहीं होती जब तक कि सद्गुरु की कृपा न हो ।

अद्वैत वेदान्त पूर्वोक्त धारणा के विपरीत जीव दशा में भी आत्मा का प्रतिपादित करता है जबकि शैव जीवदशा में आत्मा की पंचकृत्यकारित्व स्वीकार करते हैं। वेदान्त के अनुसार परमार्थत: आत्मा ब्रह्मस्वभाव ही है किन्तु जीवदशा में उसमें सुख दु:खादि भोक्तृत्व भाव आरोपित हो जाते हैं।

१- तदेव व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहि: ।। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा ६।७

यही ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में भी उद्घाटित किया गया है उसके अनुसार जो शरीरादि को भी परमशिव रूप ही देखते हैं। वे साधक साक्षात शिवरूप ही हो जाते हैं।[1]

शिव महापुराण में भी परमशिव के पंचकृत्यों का विवेचन प्राप्त होता है।[2] उसके अनुसार परमशिव के ये पंचकृत्य पंचमहाभूतों में भी रहते हैं सृष्टि भूतल में, स्थिति जल में संहार अग्नि में तिरोभाव वायु में और अनुग्रह आकाश में।[3] शिवमहापुराण के अनुसार सृष्टि स्थिति संहार एवं तिरोभाव के कृत्य क्रमशः ब्रह्मा विष्णु, रुद्र और महेश करते हैं किन्तु अनुग्रह नामक कृत्य परमशिव के सिवा अन्य कोई नहीं कर सकता-

सुताभ्यां सततं सम्यगेतत्कृत्यद्वयं सुतौ ।
सृष्टिस्थितिद्वयं भाग्यं भवता: प्रीतादपिप्रियम्
तथा रुद्रमहेशाभ्यामन्यत्कृत्यद्वयं परम् ।
अनुग्रहाख्यं केनापि लब्धुं नैवहि शक्यते ।।

शिव महापुराण १।१०।१०; ११

यहाँ पर प्रश्न उठता है कि जब ब्रह्मादि के द्वारा ही सृष्टि आदि कार्य सम्पन्न होते हैं तो फिर परमात्मा शिव में पंचकृत्यों की संगति कैसे बैठ सकती है? इसके उत्तर में शिव महापुराण में कहा गया है कि अनुग्रह

- -

१- सर्वोममायं विभव इत्येवं परिजानत: ।
विश्वात्मनो विकल्पानां प्रसरेऽपि महेशता।। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा का० १२।१।३

२- सृष्टिः स्थितिश्च संहारस्तिरोभावोऽप्यनुग्रहः ।
पञ्चेव मे जगत्कृत्यं नित्यसिद्धमजाच्युतौ ।। शिवमहापुराण १।१०,०२

३- तदिदं पंचभूतेषु दृश्यते मामकैर्बुधैः ।
सृष्टिर्भूमौ स्थितिस्तोये संहार : पावके तथा। वही १।१०

स्वभाव वाले होते हैं। अतः तो आचार्य उत्पलदेव ने लोक प्रमाताओं एवं ब्रह्मा, इन्द्रादि देवताओं को स्वक्रियाकार में प्रवृत्त निरूपित करते हुए समस्त जगत् को परमेश्वर रूप ही निदर्शित किया है।[1] ब्रह्मादि देवताओं की स्थिति से समावेश शाली साधक भक्त की प्रशंसा करते हुए आचार्य उत्पलदेव ने शिवस्तोत्रावली में स्पष्ट कहा है कि वे भक्त जन ब्रह्मादि देवताओं के भी स्वामी होते हैं, जो जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों ही अवस्थाओं में परमशिव के दर्शन करते हैं।[2] तात्पर्य यह कि परमशिव की महेश्वरता का ज्ञान हो जाने के अनन्तर जीव को जगत् में सर्वत्र उसी परमात्मा की ही सत्ता का आभास होता है, और यह ठीक भी है क्योंकि जब वस्तुतः उससे भिन्न-तथा आभासमान समस्त जगत् भी परमेश्वर रूप ही है तो फिर ब्रह्मादि को भिन्न सत्ता का प्रश्न ही नहीं उठता। आचार्य उत्पलदेव के मत में तो ब्रह्मा विष्णु आदि देवताओं को सृष्टि आदि करने की सामर्थ्य वह परम महेश्वर परमशिव ही अपने परिपूर्ण स्वातन्त्र्य से प्रदान करता है। और उनसे अपनी प्रेरणा के द्वारा जागतिक लीलाओं को सम्पन्न करवाता है पुनः अपने ही स्वातन्त्र्य से स्वेच्छापूर्वक उन सभी देवताओं के शरीरों को महाप्रलय में अपने भीतर विलीन कर लेता है।[3] ब्रह्मादि देवता तो भेदप्रथा से युक्त होते हैं। अतः वे उसकी विभूतिरूप परमेश्वर

1- यदीन्द्रो ब्रह्मांशकलेशा अपि ब्रह्मेन्द्रविष्णवः ।
   ग्रसमानास्ततो वन्दे देव विश्वं भवन्मयम् ।। शिवस्तो० २०।१७

2- ब्रह्मादीनामपीशास्ते ते बहुमान्यभागिनः ।
   येषां स्वप्नेऽपि मोहेऽपि स्फुरसि त्वं पुरःस्थितः ।। शिवस्तो० १७।७

3- क्व ब्रह्मादिदेवेश प्रभावप्रभवव्यय ।
   क्व लोकेश्वरश्रेणी शिरोविधृतशासनः ।। शिवस्तो० १४।११

-: लीला सिद्धान्त :-

पूर्व विवेचन से यह स्पष्ट है कि काश्मीर शैवदर्शन में सृष्टि आदि स्वयं
परमेश्वर ही करता है, परन्तु वह जीवों के कर्मों की प्रेरणा से नहीं,
न ही कर्मकाण्ड के अधीन रहता हुआ ऐसा करता है। वहाँ सृष्टि आदि
के करने वाले तो आपेक्षिक ईश्वर ब्रह्मा रुद्र, इन्द्र विष्णु, नारा
आदि होते हैं। जीवों के प्रति करुणा से प्रेरित होकर सृष्टि करने वाला
भी आपेक्षिक ईश्वर ही होता है। ईश्वर केवल संकुचित विनोद के लिये
भी सृष्टि नहीं करता क्योंकि वह परिपूर्ण है। उसे विनोद की कोई
अपेक्षा नहीं। पुनः सृष्टि तो परमेश्वर का स्वभाव है और वह स्वभाव है
आनन्दघन है। आनन्द के चमत्कार की लहरें उसका विलास बन जाती हैं
उसके अनुसार वह अपनी इच्छाओं को प्रत्यक्षतया नटवत् अभिव्यक्त करता
है। इस प्रकार सारा विश्व और उसके सृष्टि संहार आदि सभी कृत्य
उस महानट की नाट्य लीला है। यदि यह लीला उसमें न हो
वह महेश्वर ही न होता। अतः सारा विश्व उसकी लीला है। नाट्य
है क्रीडा है वही इस लीला के रूप में विश्व में सभी आकारों में स्वयं
प्रकट होता है। आचार्य उत्पलदेव ने शिवस्तोत्रावलि में इस तथ्य
को स्पष्ट करते हुए कहा है।

अग्नीषोमरविब्रह्मविष्णुस्थावरजङ्गम ।
स्वरूप बहुरूपाय नमः संविन्मयाय ते ।। शिवस्तो० २।१

तात्पर्य यह है कि परमशिव ही अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, ब्रह्मा, नारायण
तथा पृथ्वी आदि स्थावर और मनुष्यादि जङ्गम के स्वरूपों को धारण
करके विश्व में अवतरित होता रहता है। पुनः अपने स्वातन्त्र्य से भी क्षण
भर में वह इस जगत् को एक आकृति के रूप में स्वात्म धारणा करके

- -

एकात्मभाव से स्थित हो जाता है। यहीतो उसकी लीला है इस लीला को करने में यह पूर्णतया स्वतन्त्र है।

अद्वैत वेदान्त भी सिद्धान्ततः यह स्वीकार करता है। कि जीव का जीवत्व तभी तक है, जब तक वह स्थाणु में पुरुष बुद्धि के समान द्वैत रूप अविद्या को निवृत्त करता हुआ। कूटस्थ नित्य चित्स्वरूप आत्मा को मैं ब्रह्म हूँ। इस रूप में नहीं देख लेता किन्तु जिस अवस्था में शरीरेन्द्रिय मन और बुद्धि रूप संघात से व्युत्थित होने पर श्रुतियों के द्वारा यह ज्ञान हो जाता है कि जीव शरीरेन्द्रियादि से पृथक है, असंसारी है, चेतन स्वरूप है, तब वह कूटस्थ, नित्य चित्स्वरूप आत्मा का ज्ञान प्राप्त करके शरीरादि के अभिमान से मुक्त[2] होकर कूटस्थ, नित्य और ज्ञान स्वरूप आत्मा ही बन जाता है। इस प्रकार वेदान्त के अनुसार संसारी जीव का भी पारमार्थिक स्वरूप वही है। जो सर्वोपरि ब्रह्म या आत्मा का है। उसके अनुसार शरीर रूपी बन्धन की अवस्था औपाधिक है। किन्तु शैव मत में जैसा कि पूर्वविवेचन से स्पष्ट है। ब्रह्म या परमशिव किसी भी प्रकार की उपाधि से उपाधित नहीं होता , बल्कि वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही सर्वत्र विभिन्न रूपों

- -

१- चिद्वैभव महामायारागुणे पशुविषये ।
महानवाय भवते चिद्वैभवविभोर्नमः ।। शिवस्तो २।२

२- यावदेव हि स्थाणाविव पुरुषबुद्धिं द्वैतलक्षणामविद्यां निवर्तयन्कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपमात्मानमहं ब्रह्मास्मीति न प्रतिपद्यते तावज्जीवस्य जीवत्वम् । यदा तु देहेन्द्रियमनोबुद्धिसंघाताद् व्युत्थाप्य श्रुत्याप्रतिबोध्यते –नासित्वं देहेन्द्रियमनोबुद्धि संघातः नासि संसारी किं तर्हि । तद्यत्सत्यं स आत्मा चैतन्यमात्र स्वरूपस्तत्त्वमसीति । तदाकूटस्थनित्यदृक् स्वरूपमात्मानं प्रतिबुध्यास्माच्छरीराद्यभिमानात्समुत्तिष्ठन् स एवं कूटस्थनित्यदृक्स्वरूपआत्मा। भवति । ब्र० भा० १।३।१९

परमशिव स्वरूप संकोच और स्वरूप विस्तार की इन समस्त क्रियाओं को करने में पूर्ण स्वतन्त्र है । इन कार्यों को करने में उसे किसी भी उपाधि से उपहित नहीं होना पड़ता क्योंकि यदि परमेश्वर को भी करने किसी उपाधि से उपहित होकर सृष्टि आदि की रचना करनी पड़ेगा तो फिर उसकी महेश्वरता तो स्वतः खण्डित हो जायेगी।

आचार्य उत्पलदेव के मत में सृष्टि की रचना, उसकी रक्षा एवं नाश इत्यादि कृत्य तो परमेश्वर के स्वभाव के कारण ही होते हैं। इतना अवश्य है कि मूल सृष्टि करने के अनन्तर अशुद्ध सृष्ट्यादि कार्य का अधिकार वह से मलिन ब्रह्मा, रुद्र इत्यादि को सौंपकर स्वयं चिदानन्दघन स्वरूप बना रहता हुआ स्थित रहता है। किन्तु जब उसकी इच्छा होती है तब वह उन देवताओं को उनके समस्त अधिकारों के समेत अपने में विलीन करके पुनः एकात्म भाव से स्थित हो जाता है तात्पर्य यह है कि परिपूर्ण परमशिव विश्व की सृष्ट्यादि लीलाओं को चलाने के लिये स्वयं विविध प्रकार के पात्रों के रूप में भिन्न भिन्न भूमिकाओं में अवतरित होकर यहाँ वहाँ उनउन कार्यों को करता रहता है। किन्तु इस लीला के अन्त में उन सभी का अन्त हो जाता है और यह ठीक भी है कि क्योंकि परमशिव के सिवा किसी दूसरे तत्त्व की पारमार्थिक सत्ता होने का प्रश्न ही नहीं उठता। ब्रह्मादि देवता

- -

१- स्वर्गौकसितिनिर्दं [illegible]कालाय ।
सत भक्ति[illegible]मदादिलीलोत्थ महोत्सव ।। शिव स्तो० १४।२३

तृतीय अध्याय

मोक्ष तो प्रकृति के साथ सम्बन्ध का छूट जाना है। योग दर्शन के अनुसार अनित्य में नित्यता अपवित्र में पवित्रता दुःखात्मक विषयों में सुखरूपता तथा अनात्मपदार्थों में आत्मबुद्धि का होना ही अविद्या है। और यही अविद्या बन्धन का कारण है। इसके विपरीत पुरुषार्थ को सम्पन्न कर लेने वाले गुणों का अपने मूलकारण प्रकृति में विलीन हो जाना तथा चिन्मात्र पुरुष का अपने स्वरूप में स्थित हो जाना ही कैवल्य है।[1] पूर्व मीमांसा दर्शन के अनुसार प्रपंच के साथ पुरुष का सम्बन्ध ही उसका बन्धन है। पार्थसारथि कहते हैं। भोगायतन शरीर, भोगों का साधन स्वरूप इन्द्रियां तथा भोग्य रूप शब्दादि विषय रूप त्रिविध प्रपंच पुरुष को बन्धन ग्रस्त करते हैं।[2] मोक्ष के सम्बन्ध में पूर्व मीमांसा के अधिकारी विद्वान बादरायणा जैमिनि का मत प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि मोक्ष की अवस्था में आत्मा ब्रह्म के सदृश स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।[2 ख] अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीव का स्वयं को ब्रह्म से भिन्न समझना ही उसका बन्धन है क्योंकि यथार्थ जीव स्वयं ब्रह्म है।[3 क] अतः अद्वैत वेदान्त में मोक्ष का अभिप्राय अविद्या के कल्पित जीवभाव का विलीन हो जाना और फलतः एकमात्र ब्रह्मभाव का ही अवशिष्ट रह जाना और इस तरह से जीव का ब्रह्म से ऐक्य लाभ प्राप्त करना ही है। जगत का यथार्थ एवं एकमात्र तत्त्व ब्रह्म है। अतः मोक्ष का स्वरूप इस परमार्थसत्ता के साथ तादात्म्य प्राप्ति ही है।[3 ख] विशिष्टाद्वैत वेदान्त में अविद्या निमित्तक कर्मों को ही बन्धन का मूलकारण माना गया है। अनादि अविद्या से प्रेरित स्वकृत पुण्यपापात्मक कर्मों के फलस्वरूप यह जीवात्मा

- -

१- क - अनात्मनि च देहादावात्मबुद्धिस्तु देहिनाम् ।

अविद्या तत्कृतो बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।। सर्वदर्शन संग्रह पृ०४९७ चौखम्बा वाराणसी १९६४

१- ख पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूपप्रतिष्ठा वा

शिव स्तोत्रावलि में भी बन्धन मोक्ष की यही दृष्टि परिलक्षित होताहै। आचार्य उत्पलदेव का स्पष्ट अभिप्राय है। कि बन्धन मोक्षादि व्यापार ही परमेश्वर की स्वातन्त्र्य लीला का ही प्रमुख स्थान होता है । वह अपने ही स्वातन्त्र्य से अपने ही चिद्रूप में भासमान होते हुए सम्पूर्ण जगत् का उत्कर्ष कर देता है। और बन्धनका पात्र बन जाता है। पुनः अपने ही स्वातन्त्र्य से अपना अनुग्रह लीला से जीव को वह अपने चिदानन्द रस में लीन करके मोक्षानुगामी हो जाताहै। शिवस्तोत्रावलि में बन्धन मोक्ष केसम्बन्ध में निम्नलिखित दर्शन तत्वोंका निरूपण काव्य रचना के माध्यम से किया गया है ।

क- ज्ञान और अज्ञान

ख- शक्तिपात सिद्धान्त

ग- जीवन्मुक्ति का स्वरूप

घ- शैवी दृष्टि:-

क- ज्ञान और अज्ञान

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार व्यवहारिक जगत् में जो कुछ भी दीखता है, अनुभव होताहै, यह सब कुछ परमशिव की स्वातन्त्र्य लीला के कारण ही होता है। वास्तवमें इन सब का परमेश्वर से पृथक कोई और पारमार्थिक सत्ता नहीं है। अतः ज्ञान और अज्ञान आदि भी उसी परमेश्वर की स्वातन्त्र्य लीला के विलास है। वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से जगत् को लीला को चलाने के लिये जीवन रूप में प्रकट होकर स्वातन्त्र्य अज्ञानादि बन्धनों से ग्रस्त हो जाता है। इस प्रकार जगत् की लीला को चलाता रहता है। पुनः अपनी स्वतन्त्र इच्छा से ही गुरु शास्त्रादि की कृपा को माध्यम बनाकर अपने स्वरूप की पहचान कर उत्कृष्ट कोटि की ज्ञानमयी दशा को प्राप्त करके एकात्म भाव से स्थित हो जाताहै। तात्पर्ययह है कि चिदानन्दघन स्वरूप परमेश्वर

इस प्रकार सामान्यतया ज्ञान की दो दशायें परिलक्षित होती हैं। विकल्पमय दशा में परिमित प्रमाता को होने वाली जगत् के भासमानताविषय विषयों का व्यावहारिक ज्ञान प्रथम प्रकार का ज्ञान होता है। इस ज्ञान की अनुभूति प्रायः प्रत्येक आत्मा को होती है। ज्ञान का दूसरा और सर्वोत्कृष्ट दशा केवल होता ही की कृपा गुरु, शास्त्र के सतत अध्ययन के अनन्तर प्राप्त होता है। इस दशा में जीव स्वयं को ईश्वर से अभिन्न समझने लगता है, वह अपने में और परमेश्वर में परिपूर्ण अभेद स्थापित करके कृतकृत्य हो जाता है।[1] अर्थात परिपूर्ण ज्ञान की दशा में उसे परिपूर्ण अहं विमर्श की प्राप्ति हो जाती है, जिसके कारण वह अपने को परिपूर्णस्वातन्त्र्य सुन्दर चिदात्मा शिव के प्रकाश से उन्मीलित, ज्ञानवान् सर्ववशी समझता है।[2]

ईश्वरोऽहमहमेव रूपवान्

पण्डितोऽस्मि सुभगोऽस्मि कोऽपरः ।

मत्समोऽस्ति जगतीति शोभते ।

मानिता त्वदनुरागिणः परम् ॥

आचार्य उत्पलदेव के मत में ऐसे ही शुद्ध कल्याणात्मक ज्ञान की प्राप्ति ही जीवन में प्राप्त होने वाला अन्तिम एवं परमलक्ष्य होता है। ज्ञान की इस दशा में जीव अपने भूले हुए परमेश्वरात्मक स्वरूप को पुनः पहचान लेता है। इसी को प्रत्यभिज्ञा स्वरूप कहते हैं। ज्ञान की यह धारा जीव और परमेश्वर

- -

-----। ईश्वर प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी १-५३-४

१- भास्करी वाल्यूम १ पेज ३६-४०

२- शिवस्तो० ९-१४

में न तो कोई जानने योग्य तत्व शेष रह जाता है, न कोई करने योग्य क्रिया शेष रह जाती है और न ही कोई योग साधना इत्यादि रह जाती है। अर्थात परिपूर्ण भक्ति की इस अवस्था में सम्पूर्ण संसार में केवलशिव भाव ही चमकता है।[1]

वेदान्त की दृष्टि में ज्ञान से तात्पर्य उस अवस्था की प्राप्ति से है जिस अवस्थामें जीव में ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या का भाव जागृत हो जाता है।[2] तात्पर्य यह है कि वेदान्त केवल ब्रह्म को ही सत्य मानता है। उसकी दृष्टि में ब्रह्मैक्य का ज्ञान ही उत्कृष्ट कोटि का ज्ञान है। जब कि का शैव दर्शन सम्पूर्ण जड चेतनमय जगत को चिद्रूप समझते हुए सभी वस्तुओं को सत् समझता है।[1] तभी तो काश्मीर शैव दर्शनके ज्ञानी को सांसारिक व्यवहार उसके मार्ग मे कभी भी बाधा नही पहुंचाते।

अद्वैत वेदान्त मे आत्माके विश्वोत्तीर्णभाव के साक्षात्कार को ज्ञान कहा गया है। बौद्धादि सम्प्रदायों में विश्वमयता की अनुभूति को ही उत्कृष्ट ज्ञान कहा गया है, परन्तु त्रिकदर्शन में उभयात्मक साक्षात्कार को ही पूर्ण ज्ञान माना गया है तभी तो प्रत्यभिज्ञाहृदयम में कहा गया है।

* विश्वोत्तीर्ण विश्वमयमिति त्रिकादिदर्शनविद:

शिवस्तो में भी विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय अवस्था की समरसता को पूर्णज्ञान माना गया है।

भवतोन्तरचारि भावजातं
प्रभुमुन्मुत्यमेव पूजितं तत् ।
भवतो बहिरप्यभावजाता
कथमीशान भवेत्समर्च्यते ।।

तात्पर्ययह है कि तत्वज्ञानी जगत को विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमयात्मक रूप

- -

१- शिवस्तो० १२।१३

विविध प्रकारों से साक्षात्कार करके परिपूर्ण अद्वैत की स्थिति को प्राप्त कर लेता है। शैव दर्शन के ज्ञानी की दशा अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की होती है। शिवस्तो० में कहा गया है।[१]

> ईश्वरोऽहमहमेव रूपवान्
> पण्डितोऽस्मि सुभगोऽस्मि कोऽपरः।
> मत्समोऽस्ति जगतीति शोभते।
> मानिनः त्वदनुरागिणः परम् ॥

आचार्य उत्पलदेव आदि शैवों का यह स्वरूप वेदान्त के अतिरिक्त नैयायिकों सांख्यों इत्यादि के तत्वज्ञान के स्वरूप से भी भिन्न है।

न्याय वैशेषिक दर्शन के अनुसार अपवर्ग की प्राप्ति ही मानव जीवन का परमलक्ष्य है। वात्स्यायन कहते है कि आत्मा इत्यादि द्वादश प्रमेयों के तत्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है।

आत्मादेः खलु प्रमेयस्य तत्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः
सामान्यतन्त्र वैशेषिक में भी द्रव्यादि पदार्थों के साधर्म्य न्याय भाष्य १।१।१
वैधर्म्य रूप तत्वज्ञान को निःश्रेयस का साधन स्वीकार किया गया है।

द्रव्यगुणकर्म सामान्यविशेष समवायानां षण्णां पदार्थानां
साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्वज्ञानं निःश्रेयसहेतुः। प्रशस्तपादभाष्य पृ०२
न्याय वैशेषिक के मत में तत्वज्ञान के होते ही तत्काल चौखम्बावाराणसी १९६
१९६६

अपवर्ग की सिद्धि नहीं होजाती। तत्वज्ञान मिथ्याज्ञान को नष्ट करता है, मिथ्याज्ञान के दूर होने से ही दोषों की निवृत्ति हो जाती है। दोषों के अभाव से धर्माधर्म रूप प्रवृत्ति का भी अभाव हो जाता है। उससे कर्म होने नहीं पाते। कर्मों के न होने पर जन्म की भी सम्भावना नहीं रहती।

१- वही १३।४

जन्म के अभाव का तात्पर्य ही समस्त दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति है और इसी का नाम अपवर्ग है। किन्तु आचार्य उत्पलदेव के मत में तत्त्वज्ञान के
न्यायसूत्र १।१।२
होते ही साधक शिव स्वरूप हो जाता है। फिर सांसारिक सुख दुःखादि उसके मार्ग में बाधक नहीं होते हैं। वह जीवन्मुक्त हो जाता है। शरीर के छूट जाने पर विदेह मुक्त हो जाता है।

सांख्य दर्शन के अनुसार वास्तविक तत्त्वज्ञान प्रकृतिपुरुष विवेकज्ञान को मा माना जाता है।

व्यक्ताव्यक्तज्ञ विज्ञानात् सां० कारिका २

सांख्य की दृष्टि में त्रिविध दुःखों की ऐकान्तिक की एवं आत्यन्तिक की निवृत्ति ही कैवल्य है। वस्तुतः सांख्यमत में कर्म से भिन्न केवल ज्ञान को कैवल्य कहा गया है और यह ज्ञान प्रकृति तथा पुरुष में परस्पर विवेक का साक्षात्कार है।

गुणपुरुषान्यताख्यातिज्ञानम् । तत्त्वकौमुदी २३

किंतु आचार्य उत्पलदेव प्रकृति पुरुष इत्यादि तत्त्वों को परमशिव के स्वातन्त्र्य का ही परिणाम मानकर सब कुछ उसी की इच्छा का परिणाम निरूपित किया।

अद्वैत वेदान्त में अविद्यात्मक अनादि भ्रान्ति ही जगत् का मूलकारण है। परन्तु काश्मीर शैव दर्शन में वह मूलकारण माना, शिव के स्वातन्त्र्य की लीला में निहित है। उस लीला के विलास से शिव जीव रूपता में प्रकट होकर अपने शिवत्व को भूल जाता है। और स्थूल शरीर को बुद्धि को, प्राण को

- -

१- तदो यावता पूर्णोऽपि "देण प्रत्याततयं विमर्शयन्ति तावत न प्रत्याति सत्यपूर्णख्याति रूपा अख्यातिरेव भ्रान्तितत्त्वम्. ईश्वरप्रत्यभिज्ञान विमर्शिनी

२- ब्रह्म वादिनो भ्रान्तेः ख्याति पंचक रूपत्वं पृथक् पृथक् कथयन्ति । सुशिक्षित मतेन तु अपूर्णख्यातिरूपा अख्याति ।: भास्करी भाग १

या शून्यको अपना आप समझता हुआसंसार केसमस्त पदार्थों को अपने से भिन्न समझता है। यही उसका अज्ञान है औरयही उसकी मूल भ्रान्ति है, परन्तु यह भ्रान्ति- भ्रान्ति का भी मूल स्रोत शिव के स्वातन्त्र्य का विकास है।इस तरह से काश्मीर शैव दर्शन मे भी भ्रान्ति को तो माना गया है परन्तु जगत के मूल कारण के रूप मे नहीं माना गया है। आचार्य अभिनवगुप्त ने ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी (द्वितीय अधिकार के मानततपाठ प्रमेय प्रकरण) में स्पष्ट कहा है।

> दिष्ट्या वस्तुकम्पितो शिवत्यापुष्पत: मायापदं तु सर्वे भ्रान्ति। तत्र गण्डे स्फोट इव भ्रान्तोपि भ्रान्त्यपरा भ्रान्ति: (शुक्तौ रजतमिति)

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार अज्ञान, ज्ञान काअभाव नहीं अपितु ज्ञानका संकोच है।[1] दूसरे शब्दो मे हम इसे अपूर्ण ख्याति कह सकतेहै ।वस्तु का अपने व वास्तविक स्वरूप अर्थात परिपूर्ण चित स्वरूप मे प्रकाशित न होना ही अपूर्णख्याति है और यही अज्ञान है[2] शैव दर्शन के मत में दर्शनशास्त्र के अन्य आचार्य अज्ञान को असत्ख्याति विपरीत ख्याति अनिर्वचनीय ख्याति इत्यादि विभिन्न रूपों में कहे ही है किन्तु वास्तवमें अज्ञान से तात्पर्य ज्ञान के संकोच सेहीहै। इस दर्शन के अनुसाररज्जु मे सर्प की प्रति रूप भ्रान्ति भी एक प्रकार के ज्ञान की प्रबुद्ध संकोच ही है। क्योंकि दूर से देखने पर शुक्ति में रजत का आरोप हुआ किन्तु समीप से देखने पर यह निश्चय होगया कि यह रजत नहींवल्किशुक्ति हीहै। इस शैवा दर्शन के अनुसार ज्ञान का यह संकोच अर्थात अज्ञान ही जीव के बन्धन का है। कारण बनता हैकि जिस दशा मेंयह भेद मय जगत को ही अपने से भिन्न और संकुचित शरीर आदि को अपना आप

- -

१- शिवसूत्र १।२।१

२- अपूर्ण ज्ञान रूपा न तु ख्यात्यभावरूपा भास्करी पेज १२३

"अद्वैतत्व समझता है पुन: उस अज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर सब कुछ शिवमात्र के रूप में ही लगने लगता है। भगवानउत्पलदेव ने शिवस्तोत्रावली में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वास्तविक ज्ञानवान की दृष्टि में इस जगत में आभासमान कोई भी पदार्थ भिन्न नहीं है क्योंकि वे सब चिदानन्दघन परमेश्वर की चिदात्मकता से व्याप्त रहते हैं। सांसारिक प्राणियों को उसकी पहचान न होने के कारण ही वे बन्धन में पड़े रहते हैं।

सदा भवद्देह निवास स्वस्थो ।

अप्यन्त: परं दह्यत एष लोक:।।

तवेच्छया तत्कुरु मे यथायं

त्वदर्चनानन्दमयो भवेयम ।। शिवस्तो० १८,१६

यही बात प्रत्यभिज्ञाहृदय में भी कही गयी है। उसके अनुसार चिदानन्दघन स्वरूप परमशिव रूप तत्व का ज्ञान ही मुक्ति एवं उसके परमतत्व को न जानना ही बन्धन है। आचार्य उत्पलदेवने स्पष्ट शिवस्तोत्रावलि में स्पष्ट शब्दों में कहा है कि सम्पूर्ण जड़चेतन मय जगत को चिदात्मापरमशिव से भिन्न समझना ही अज्ञान है। और यही अज्ञान ही बन्धन का कारण है। इसके विपरीत उससम्पूर्ण वैभवको परमेश्वर के अनुग्रह से शिव रूप समझना ही उत्कृष्ट कोटि का ज्ञान है। और यही ज्ञान मोक्ष का कारण है।

त्वया निराकृतं सर्वं हेयमेतत्तदेव तु।

त्वन्मयं समुपादेयमित्ययं सारसंग्रह ८ शिवस्तो० १२।१२

काश्मीर शैव दर्शन की अज्ञान विषयक धारणा के ही प्रसंग में वेदान्त की अज्ञान सम्बन्धी धारणा पर भी विचार करना आवश्यक है क्योंकि दोनों ही दर्शनों की तद्विषयक धारणा में प्रयाप्त भिन्नता है।

- -

१- एतत्स्वपरिज्ञान मेव मुक्ति: एतत्स्वापरिज्ञान मेव च बन्धन:

अद्वैत वेदान्त के अनुसार जीवका स्वयं को ब्रह्म से भिन्न समझना ही ही उसका बन्धन है। शंकर का कथन है कि यथार्थ में जीव स्वयं ब्रह्म है,[1] परन्तु अविद्यावश वह इस तथ्य को विस्मृत कर बैठता है। जीव और ब्रह्म के अभेद का प्रतिपादन करते हुए आचार्य शंकर कहते है।

यदि पुन: परमार्थत: एवं बद्ध: कश्चिदात्मा ईश्वर अन्यो यन परस्यात्मन: संस्थानभूत: प्रकाशाद्यन्तरादीन वेदेश श्रुतीभ्युपगम्येत तत: पारमार्थिकस्य बन्धस्य तिरस्कर्तुमशक्यत्वान्मोक्षशास्त्र वैयर्थ्यं प्रसज्येत। न चात्रौभयावपि भेदाभेदौ श्रुतिस्तुल्यवद्व्यपदिशति। अभेदमेव हि प्रतिपाद्यत्वे निर्दिशति भेदं तु पूर्व प्रसिद्ध में वानुवदत्यर्थान्तरविवक्षया।[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि शैवदर्शन एवं अद्वैत वेदान्त दोनों की जीव की ब्रह्म विषयक धारणा एक सी प्रतीत होती है। दोनों ही जीव के बन्धन का कारण अज्ञान मानते है, किन्तु दोनों की अज्ञान विषयक धारणा में कोई भी समा- साम्य नहीं है। वेदान्त अज्ञान को मिथ्याज्ञान समझता है, आचार्य शंकर[3] ने सर्वत्र इसी मिथ्याज्ञान स्वरूप अज्ञान को बन्धन का कारण माना है। आचार्य शंकर अविद्या की परिभाषा करते हुए[4] कहते हैं कि अनात्म पदार्थों में आत्मख्याति होना ही अविद्या है। विद्यारण्य के अनुसार अविद्या सदसद्विलक्षण, अनिर्वचनीय है। अर्थात् अविद्या को न तो सत् कह सकते है, न असत् कह सकते है, अतः यह सदसद् दोनों से विलक्षण अनिर्वचनीय है।[5]

- -

१- ब्रह्मज्ञानावली माला, २०

२- शंकर भाष्य ३,२, २६

३- शंकर भाष्य २।३।४८ विवेक चूडामणि ५२

४- देहादिष्वनात्मस्वहमस्मीत्यात्म बुद्धिरविद्या शंकर भाष्य १।३।२

५- अज्ञानं तु सदसद्भ्यामनिर्वचनीयं भावरूपं यत्किंचिदिति वदन्त्यहमज्ञ इत्याद्यनुभावात् देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम् इत्यादि श्रुतेश्च

अध्ययन तथ्य स्पष्ट हो जाताहैकि काश्मीर शैव दर्शनजहाँ एक ओर अज्ञान का ज्ञान का संकोच मानताहै। वहाँ दूसरीओर वेदान्त अज्ञान को मिथ्याज्ञान मानताहै। यद्यपि तात्पर्य मे विशेष अन्तर नहीं फिर भी प्रतिपादन करने के ढंग मे काफी अन्तर है।

आचार्य उत्पलदेव ने जीवके बन्धन स्वरूप अज्ञान को दो प्रकार का बताया हैजिस जीवभाव रूपी स्वरूप संकोच तथा भेद प्रथा रूप स्वतत्रूप सम्बन्धी अज्ञान और अनु विकल्पनात्मक बोद्ध अध्यवसाय इस क्रम में रख सकतेहैं। इन दोनों प्रकार के अज्ञानों को क्रमशः पुरुषगत अज्ञान और बुद्धिगत अज्ञान भी कहा जासकता है। यही जीवके बन्धन के कारण हैं।ये दोनों ही प्रकार के अज्ञान गुरु-कृपा तथा शास्त्र-चिन्तन आदि के द्वारा जब दूरहो जाते है तो जीव के अपने चित् स्वरूप परमेश्वर भाव की उत्पभिज्ञा प्राप्त होताहै यही स्थिति जीव की जीवनमुक्त की स्थिति होती है। इस ह्रिं पति के आवेश में जीव अपने शुद्ध चिद् स्वरूप पर अवस्थित होता है। आ० उत्पलदेव इसी स्थिति को बताते हुए कहते है।

बाह्यान्तरान्तरायालीकेवले चेतसि स्थितिः।
त्वयि चेत्स्यान्मम विभो किमन्यदुपयुज्यते ।। शिवस्तो० १०।११

आचार्य उत्पलदेव की दृष्टि में यह संसार परमानन्द पूर्ण है। ज्ञान अज्ञान के भेद के कारण ही यह किसी के लिये परमानन्दमय होताहै औरकिसीके लिये दुःख जन्म, मरण रूप बन्धन का कारण होता है। भेद प्रथम से युक्त अज्ञानी लोग अपने ही स्वरूप मे स्थित होते हुए भी अत्यन्त दुखः एवं जन्म मृत्युके चक्कर मेपड़े रहते है। जबकि ज्ञानी लोग अपने ही चिदानन्द स्वरूपमें परमानन्द पूर्ण होकर इस जगत में विहार करते हैं। अर्थात जीवन्मुक्त हो जाते हैं।

- - - - - - - -अन्य- -

१- न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधि पूर्वकम् ।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम् ।। शिवस्तो० २।१

अन्ये भ्रमन्ति मायान्धास्त्वय्यैवापि स्थिता: ।
अन्ये भ्रमन्ति मायान्धास्त्वय्यैवापि स्थिता :।। शिवस्तो० १०।१२

अत: कह सकते है कि आचार्य उत्पलदेव की दृष्टि में जीव के बन्धन का एक मात्र कारण अज्ञान होाहै, जिसके कारण जीव नानाविध कष्टों को भोगता हुआ संसार में विचरण करता रहता है। पुन: इस अज्ञान की निवृत्ति होते ही । जीव का परमानन्द पूर्ण स्वरूप चमक उठता है। जिसके कारण उसे सर्वत्र शिवभाव होदि गई पड़ने लगता है ।

अज्ञान की निवृत्ति के लिये काश्मीर शैव दर्शन के कुछ आचार्यो ने जहाँ एक ओर गुरु कृपा शास्त्र अध्ययन, योग, ज्ञानादि, उपायों का निर्देश किया है वही दूसरी ओर आचार्य उत्पलदेव ने भक्ति को अज्ञान निवृत्ति का प्रधान एवं सर्वोत्तम साधन है। अज्ञान के निवृत्त होते ही ज्ञान का सर्वोत्तम प्रकाश अर्थात जीवपरमेश्वरैक्य की सर्वोत्तम स्थिति प्राप्त होती है। दूसरे शब्दों में कह सकते है कि जीव जीवन मुक्ति को प्राप्त करता है । किन्तु यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञान, अज्ञानादि कार्य व्यापार परमेश्वर की इच्छा के बिना नहीं हो सकते । यह सभी क्रियाये उसी के स्वातन्त्र्य का फल है। वह जब जिस रूप में चाहता प्रकट होता रहता है। उसकी पंचकृत्यों की लीला के क्रम में बन्धन मोक्षादि क्रिया व्यापार चलते रहते है। तभी तो आचार्य उत्पलदेव का साधक ज्ञान, अज्ञानादि क्रिया व्यापारों परमेश्वर की स्वातन्त्र इच्छा ही मानता है। उसकी अनुग्रह लीला से जीव ज्ञानी बनकर मोक्षानुगामी होता है। तथा उसकी धान लीला से जीव बन्धन का पात्र बनकर अज्ञानी कहलाता है ।

१- क्वचित नाथ दृढोऽस्मात्मबन्धो
    भवद्व्याप्ति सम्पत्त्यैव क्लृप्त: ।
  यदयं प्रथमानमेव मे स्वात्।
   भवदीयं रहयते न हेलयापि ।। शिवस्तो० ४।२४

परन्तु एक बात विचारणीय यह है कि उत्पलदेव की भक्ति नव या भक्ति न होकर समावेशात्मिका भक्ति है। शिव भाव के समावेश में अपने जीवभाव को सर्वथा त्याग कर एक मात्र शिवभाव में ही ठहरने को समावेश कहते हैं।

आवेशस्वास्वतन्त्रस्य स्वतद्रूपनिमज्जनात्।
परतद्रूपता शम्भोराद्याच्छक्त्यविभागिन: ।। त० आ० ।

अतः कि शिवस्तोत्रावली की टीका में आ० क्षेमराज ने कई एक स्थानों पर स्पष्ट कहा है। उत्पलदेव की भक्ति समावेशमयी भक्ति है। वह समावेश आणव, शक्ति शाम्भव इन तीन प्रकार के योगों के अभ्यास से प्राप्त होता है। अतः ज्ञान का मुख्य साधन योग है। उसी योग की उत्कृष्ट दशा को आ० उत्पलदेव ने भक्ति कहा है।

ज्ञान स्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा।
त्वद्भक्तिर्या विभो कहिं पूर्णा मे स्यात्तदर्थिता।। शिवस्तो० ५।८

साथ ही यह बात भी विचारणीय है कि उत्पलदेव अभिनव गुप्त आदि काश्मीर शैव आचार्यों की योगसाधना में प्रेममयी भक्ति का अंश प्रचुर मात्रा में रहा है। यह बात उनके स्तोत्रों से स्पष्ट है उदाहरणार्थ आ० उत्पलदेव ने कहा है।

आनन्दबाष्पपूर।
स्खलितपरिभ्रान्त गद्गदारावः
हासो लुठितावदन
स्त्वत्स्पर्शरसं कदाप्स्यामि ।शिवस्तो० ५।१६

यहाँपर भक्त उस उत्कृष्ट कोटि का के प्रेम की अभिलाषा करते में आनन्द

- -

१- शिवस्तो० ५।१६, ~~१३।१ १३।२०~~

विभोर होना चाहता है। जिस दशा में पहुँचकर समाधि एवं व्युत्थान दोनों ही अवस्थाओं में भक्त को एकात्मकता का अनुभव होता है। यह अवस्था आरम्भ शक्ति एवं शाम्भव योग के अभ्यास का ही प्राप्त होती है। अतः उनके मत में योग भक्ति ही है। आ० उत्पलदेव ने अन्यत्र भी ऐसे तथ्यों को सुस्पष्ट किया है। जैसे।

गाढानुरागवशतो ।
निरपेक्षीभूतमानसो अस्मि कदा ।
पटपातमिति पिनाकिन् ।
महासि हस्ते त्वामुपैष्यामि ।। शिवस्तो- 5/12

गाढगाढभव दृढ प्रसरोत्था ।
लिंगनव्यसनतत्परचेता ।
वस्त्वभिन्नित्वदमव्यक्त एवं
त्वां कदा समवलोकयितास्मि ।। वही 5/20

ख- शक्तिपात सिद्धान्त :-

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार यह समस्त जड़ चेतन मय जगत् चिदानन्दघन परमेश्वर से व्याप्त है। वह अपने स्वातन्त्र्य से बिना किसी सहायक की अपेक्षा के अपनी पंचकृत्यों की लीला चलाता रहता है। वह जब चाहता है अपने वास्तविक स्वरूप को छिपाकर जीव रूप में प्रकट हो जाता है पुनः अपनी अनुग्रह लीला के द्वारा योग साधना के माध्यम से अपने चिदानन्द स्वरूप को पहचान कर एकात्मभाव से स्थित हो जाता है। तभी तो एक स्थल पर कहा गया है कि मोक्ष वास्तव में कुछ भी नहीं है। वास्तव में अज्ञान की ग्रन्थियों को भंग करके अपने शुद्ध चिद्घन स्वरूप का पहचान लेना ही मोक्ष है।

मोक्षस्य नैव किञ्चिद्

धामास्ति न चापि गमनमन्यत्र ।

अज्ञानग्रन्थिभिदा

स्वशक्त्यभिव्यक्तता मोक्षः । पा० सा० कारिका ६०

परमेश्वर की इस सर्वव्यापकता की ओर आचार्य उत्पलदेव ने भी संकेत किया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि संसार की सभी वस्तुओं में यह ज्ञान तथा क्रिया शक्ति से सम्पन्न चित् स्वरूप परमेश्वर ही आत्मा है। और इसीलिये वही सब प्रकार से उनका वास्तविक स्वरूप हो सकता है। यदि ऐसा न होता तो इन वस्तुओं में सत्ता का नाम भी न होता[1] । इस प्रकार हम देखते है कि सर्वत्र परमेश्वर का स्वातन्त्र्य ही कार्य करता है। वह अपने स्वातन्त्र्य से बन्धन मोक्षादि विविध व्यापार चलाता रहता है। वह जब चाहता है तब अपने चिदानन्द स्वरूप को भुलाकर जीव रूप में उत्पन्न होकर बन्धन ग्रस्त हो जाता है, पुनः अपनी निरपेक्ष अनुग्रह शक्ति के प्रभाव से जीव को बन्धन मुक्त कराके मोक्ष का पात्र बनाता है। जीव पर शिव की अनुग्रह-शक्ति के इस स्वतन्त्र नियोजन को शक्तिपात कहते है । पाश्चात्य परिभाषा में इसे डिसेन्शन आफ दी ग्रेस आफ गाड कह सकते है । अतः हम शक्तिपात को परमेश्वर की स्वतन्त्र इच्छा के उस विलास को कह सकते है जिस पर के फलस्वरूप जीव आध्यात्मिक ज्ञान प्राप्त के प्रति उन्मुख होकर क्रम से उसे प्राप्त करता हुआ अन्ततोगत्वा अपने प्रकाश विमर्शात्मक स्वरूप की पहचान कर मोक्षानुगामी होता है। शक्तिपात करने में न करने में मंदतया या तीव्रतया करने में परमेश्वर स्वतन्त्र है। यह होना सारी की सारी परमेश्वर की निरपेक्ष अनुग्रह शक्ति पर ही निर्भर होती है।[1] यही आत्मज्ञान का मूलकारण होता है।[2] यह उसी परमेश्वर के स्वातन्त्र्य की महिमा है।

१- इत्थं भी शक्तिपातोऽयं निरपेक्ष इतीरित: तन्त्रालोक ८।१०७

२- स्वातन्त्र्य महिमैवायं देवस्य यदसौ पुनः।

स्वं रूपं परिशुद्धं सत् स्पृशत्यप्यणुतात्मकः।। तन्त्रालोक ८।१६३

जी समय समय पर शक्तिपात की द्वारा जीव को अपने पंथ पर लाकर उसे मोक्षानुगामी बनाता है।

आचार्य उत्पलदेव ने शिवस्तो० में कहीं प्रभु की ओर स्पष्ट संकेत किया है। उनके मत में परमेश्वर अपना निरपेक्ष अनुग्रह शक्ति है अपने ही स्वातन्त्र्य से जीव को बन्धन मुक्त करने के लिये शक्तिपात के द्वारा ज्ञानादि के मार्ग में प्रवृत्त कराता है और २ जीव उत्कृष्ट साधना के द्वारा उत्कृष्ट कोटि के ज्ञान को प्राप्त करके परमेश्वर मय हो जाता है। उसके स्वातन्त्र्य की यही तो महिमा है।

स्वेच्छयैव भगवन्निजमार्गे ।
कारितः पदमहं प्रभुणैव ।
तत्कथं जनवदेव चरामि
त्वत्पदोचितमवैमि न किंचित् । शिव स्तो० ४।१०
दास धाम्नि विनियोजितोप्यहं
स्वेच्छयैव परमेश्वर त्वया ।
दर्शनेन न किमस्मि पात्रितः ।
पादसंवहन कर्मणापि वा ।। शिव स्तो० १४।१०

अतः स्पष्ट है कि परमेश्वर का जीव का शक्तिपात सर्वथा निरपेक्ष है । यह बात दूसरी है कि शक्तिपात होने के बाद भी कुछ तो पराद्वैत का अनुभव करते है और कुछ वञ्चित रह जाते है। उसका कारण यह है कि परमेश्वर अनुग्रह शक्तिपात की लीला के साथ साथ निग्रह अर्थात निग्रहरूपा विधान की लीला को भी चलाता रहता है। तभी तो इस लीला मे वैचित्र्य आता है। और तभी यह लीला चमत्कार पूर्ण बनती है। इसीलिये उत्प० दे० ने कहा भी है।

- -

१- शिवस्तो० ११।७

स्तुति मैं न तु विद्यतेऽन्यदन्य ।
सर्वाणि कर्माणि वान्यदेव शंभो ।
परमार्थतोऽप्यनुग्रहको वा
यदि वा निग्रह एक एव कार्य : ।। शिवस्तो० ११।७

काश्मीर शैव दर्शन में एक स्थल में कहा गया है कि जब तक जीव का भेद प्रथा रूप अज्ञान नष्ट नहीं होता , तब तक आत्मख्याति नहीं हो सकती। और अनात्मख्याति रूप अज्ञान सर्वतन्त्र स्वतन्त्र परमेश्वर के शक्ति पात रूप अनुग्रह शक्ति[1] से ही दूर हो सकता है, जिसको सम्पन्न करने में वह पूर्ण स्वतन्त्र है । आचार्य उत्पलदेव के मत में परमेश्वर के शक्तिपात के अनन्तर जीवको चेतना का एक धवला सा प्रकाश प्राप्त हो जाता है। जो क्रमश: ज्ञान भक्ति, योगादि उपायों के द्वारा परमेश्वर के अनुग्रह वृद्धि के ही अनुपात में उत्कृष्ट तर होता चला जाता है। इस प्रकार जीव शाम्भवसमावेशक्रम एवं रुद्रशक्ति समावेश क्रम से सदैव परमेश्वर के प्रकाश[2] विमर्शात्मक स्वरूप में परिपूर्णैक्य के लिये लालायित बना रहता है। शक्तिपात होने के अनन्तर जीव के बन्धन शिथिल पड जाते है। फलस्वरूप वह मोक्ष प्राप्ति के लिये उतावला हो उठता है। वह बार बार परमेश्वर से यही प्रार्थना करता है कि शीघ्र ही उसे समावेश की वह उत्कृष्ट दशा रूप आनन्द प्राप्त हो जिस दशा में सब कुछ शिवरूप ही भासित होता है ।

शक्तिपात समये विचारणं
प्राप्तमीश करोषि न क्वचित् ।
अद्य मां प्रति किमागतं यत: ।
स्वप्रकाशनविधौ विलम्बसे ।शिवस्तो०१३।११

- -

१- - - - - यावत् अनात्मनि देहादौ आत्माभिमानो न गलित: तावत् स्वात्मप्रथनरूपेऽपि ज्ञाने भेदप्रथामोहो न विलीयते । अतश्च अनात्मनि आत्माभिमान भ्रम विनाशात् आत्मनि आत्माभिमान प्राप्ति पर मार्थेव स्वात्ममहेश्वरो मायामेव विनाशयति न न अन्यस्य बत सामर्थ्यम् । ~~शिवस्तो०~~ परमार्थस ८७

२- य: प्रसादलव ईश्वरस्थितो या च भक्तिरिव मामुपेयुषी शिवस्तो०८।१

भिन्न भिन्न शास्त्रों में शक्तिपात के सम्बन्ध में भिन्न २ दृष्टिकोण पाये जाते है। कुछ लोगों के अनुसार शक्तिपात ज्ञान के उदय का एक कारण है। अन्य के अनुसार ज्ञान के उदय हो जाने पर जब मेदमय कर्म नष्ट हो जाते है तब परमेश्वर का शक्तिपात होता है। कुछ अन्य के अनुसार अविद्या के नष्ट होने पर शक्ति पात का उदय होता है, कुछ के अनुसार वासनाओं के परित्याग से शक्तिपात का उदय होता है कुछ के अनुसार परमेश्वर के प्रति भक्ति एवं पूजादि क्रियाओं को करने से शक्तिपात होता है तथा कुछ अन्य के अनुसार कर्मसाम्य की दशा मे परमेश्वर की ओर पर शक्तिपात होता है।[1]
आचार्य उत्पलदेव और अभिनवगुप्त ने ने शक्तिपात के उपरोक्त कारणों मे से एक भी कारण को नहीं स्वीकार किया उनके मत में परमेश्वर का शक्तिपात निरपेक्ष है, उसके लिये किसी भी प्रकार की शर्त की आवश्यकता नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त ने मालिनी विजयवार्तिक मे शक्तिपात को निरपेक्ष निरूपित किया है उन्होंने शक्तिपात के उपरोक्त कारणों को निरस्त करते हुए कहा है।

तेन ज्ञान वशात् कर्म साम्यात् सुकृतगौरवात् ।
मलनाशात् सुखभोगाद् भक्तौ मर्दीवाक्य सेवनात् ।।
अभ्यासाद् वासनोद्रिक्तात् संस्कार परिपाकतः ।
मिथ्याज्ञान क्षयात् कर्मसन्न्यासात् साम्यविच्युतेः ।।
साम्यविच्छस्य सा शक्तिः पततीति यदुच्यते ।
तदसन्न्नु तत्रापि निमित्तान्तरमार्गणात् ।
अनवस्थाति प्रसंगस्वमार्गणात:
अन्योन्याश्रयनि: श्रेणि चक्रकानुपपादतः
(मालिनी विजय वार्तिक)
१-६८६-६९२)

१- डॉ बी० एन० पण्डित काश्मीर शैविज्म पृ० १७६-७७

आचार्य उत्पलदेव ने भी शिवस्तो० में स्पष्ट शब्दों में कहदिया हैकि हे प्रभु शक्तिपात करने के समय यह विचार करना चाहिए थाकि मैं इसका पात्र हूँ या नहीं।[1] तात्पर्ययह हैकि परमेश्वर बिना किसी अपेक्षा के अनुग्रह करता है। उनके मत में यदि शक्तिपात के लिये परमेश्वरको किसी की अपेक्षा होगी तब फिर तो यह परिपूर्ण एवं स्वतन्त्र अनुग्रह नहीं हो सकता जबकि चिदानन्दघन स्वरूप परमेश्वर परिपूर्ण स्वतन्त्र एवं सर्वशक्ति सम्पन्न है। वह अपने स्वातन्त्र्य से शक्तिपात के द्वारा जीवको बन्धन मुक्त करता हुआ पंचकृत्यों की लीला चलाता रहता है। शक्तिपात होने के अनन्तर जीव सांसारिक कार्य व्यापारों को क्रीडा के न्याय से ही करता है। इस प्रकार वह प्रतिपल परमेश्वर के साथ सम्पृक्त रहकर ब्रह्मानन्द के लाभ के लिये उत्साहित बना हुआ मोक्षा नुगामी होताहै।[2] परमेश्वरका यह शक्तिपात जीव की शक्ति केअनुसार मन्द मध्य, और तीव्र भेद से तीन प्रकार का होता है।[3] परमेश्वर अपने इन तीनों प्रकार के शक्तिपातों में अपने स्वातन्त्र्य से चलाता रहता है। अतः कह सकते हैंकि शक्तिपात परमेश्वर की वह स्वतन्त्र लीला हैजिसके द्वारा जीव की मोक्ष मार्ग की ओर प्रवृत्ति होती है।

१- शक्तिपात समये विचारणं------ शिवस्तो० १३।११

२- संसारराध्वा सुदूरः खल- संतर विविध व्याधिगर्भांमयष्टि:

मागा नैवोपमुक्ता यदिपिसमकृत्वातु तन्नो विराय।

इत्थं व्यर्थीजन्म जातः शशिधरचरणाक्रान्तिकान्तो समाद्व।

स्त्वद्भक्तत्वैति तस्मै कुरु सपदि महासम्पदोदीक्षीवाः।। शिवस्तो० ५।१५

३- तन्त्रालोक ८।४४

५- अयम् एषाद्दुर्निवारो महामोहो देहादिप्रमातृताख्युत्यः प्रलीयते। शक्तिमावहन स्यात अमेय अब हेतुः। पी०प्र० पी०७१

आचार्य उत्पलदेव के मत में परमेश्वर पूर्णत: स्वतन्त्र है अत: वह जीवन, मृत्यु आदि की अनादि श्रृंखला में बंधे हुए जीव पर अनुग्रह करता रहता है। उसके अनुग्रह करने से जीव मोक्ष के उपायों की साधना में लग जाता है। जिससे वह उन भक्ति आत्मज्ञान योगादि उपायों का आश्रय लेकर मोक्ष प्राप्त करता है। अद्वैत वेदान्त में जीव की भक्ति के लिये ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है। वेदान्त की दृष्टि में जीवको विविध उपायों से ज्ञान प्राप्तकरना चाहिए वह ज्ञान ही मोक्ष का साधन बनता है। सभी मोक्ष वादियोंको अभिमत है।[1] ज्ञानसे मोक्ष प्राप्ति की धारणा आचार्य उत्पलदेव को भी अभिमत है किन्तु वेदान्त जैसे ज्ञान के द्वारा नहीं वेदान्त तो उत्कृष्ट कोटि की ज्ञान दशा में प्रशम सत्यं शान्तिमयता का अनुभव करता है जबकि आचार्य उत्पलदेव की दृष्टि में ज्ञान की दशा में समस्त सांसारिक व्यवहार भी शिवरूप होकर चमक उठता है। क्योंकि सबकुछ चिदानन्दघन परमेश्वरका स्वरूप ही तो है।[2] आचार्य शंकर ज्ञान के बिना मोक्ष की सिद्धि नहीं मानते। उनके अनुसार जिस प्रकार वह्नि के अभाव में पाक प्रक्रिया सम्भव नहीं हो सकती उसी प्रकार ज्ञान के बिना मोक्ष सम्भव नहीं।[3] वेदान्त मोक्ष की प्राप्ति में भक्ति को स्वतन्त्र साधन नहीं माना गया है। शंकर के मत में भक्ति से जीव अपने वास्तविक स्वरूप का अनुसन्धान तो कर सकता है।[4] किन्तु मोक्ष तो ज्ञान

१- सम्यग्ज्ञानान्मोक्ष इति सर्वेषां मोक्षवादिनामभ्युपगमः। शंकर भाष्य २।१।११

२- कोऽस्त्यशेषसन्तापदरां मन्य: पूज्योयेन त्वमय तत ।
भवद्भक्तिमतां श्लाघ्या लोकयात्रा भवन्मयी ।। शिवस्तो० १३।१६

३- बोधोऽन्यसाधनेभ्यो हि साक्षान्मोक्षैकसाधनम् ।
पाकस्य वह्निवज्ज्ञानं विना मोक्षो न सिध्यति ।। आत्मबोध २

४- विवेक चूडामणि ३२ ।

के द्वारा ही प्राप्त होगा। अद्वैत मत में ब्रह्मज्ञान केवल बौद्धिक चिन्तन
नहीं अपितु एक दिव्य साक्षात्कार है, जिसका उदय कर्म एवं भक्ति
की पृष्ठ भूमि में होता है। इस सन्दर्भमें प्रो० पी० रामास्वामी ने
अय्यर का कथन हैकि शंकर का ज्ञान ग्रन्थों का शुष्क अध्ययन नहीं बल्कि
सत्य को ग्रहण करने का उत्साही हृदय का प्रयत्न हैजो जब व्यक्ति की
ओर मुड़ता है तो भक्ति कहलाता है।[1] वेदान्तमें ज्ञानयोग केवलप्रयत्न
पर आश्रित है इसके विपरीत आचार्य उत्पलदेव जीव की बन्धन मुक्ति
का प्रधान कारण चिदानन्दघन परमेश्वर को ही। वही निरपेक्षतयाजीव
पर स्वयमेव अनुग्रह करता है।वही उसका शक्तिपात होता है। उसीके प्रभाव
से जीव योग यदि उपायों के द्वारा शनै शनै: परमेश्वर के साथ परि
पूर्ण ऐक्य स्थापन करके मोक्ष प्राप्त करता है। आचार्य उत्पलदेव ने शिव
स्तो०में वेदान्त के विपरीत ज्ञानादि की अपेक्षा शक्तिपात एवं मोक्षादि
प्राप्ति में भक्तिको ही सर्वोत्तम साधन माना है। उनके मत में परिपक्व
अवस्था को पहुंची हुयी भक्ति ही पूर्णमुक्ति है।[2]

आ०उत्पलदेव ने शक्तिपात के अनन्तर होनेवाली भक्ति एवं उसकी भक्ति
महत्तासम्बन्धी अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए शिवस्तो० में कहा
हैकि परमेश्वर के चाहे से अनुग्रह से जब जीवका मायाजन्य कालुष्य कुछ दूर
हो जाताहै तब उसे थोड़ीसी भक्ति प्राप्त होती है। उस भक्ति से
साधना करने पर परमेश्वर के अनुग्रह में भी तीव्रता आ जाती है उसके प्रभाव
से जब भक्ति उत्तरोत्तर बढ़ती जातीहै तब परमेश्वर के अनुग्रह की मात्रा भी
अधिक बढ़तीहै।अन्ततोगत्वा जीव को परमेश्वर के प्रति अनन्य प्रेम होता
जाताहै।फलस्वरूप उस जीव कीवह सर्वोच्च स्थिति प्राप्त हो जाती है।
जहाँ पहुंचकर वह परमेश्वरके साथ परिपूर्ण अभेद स्थापित करता है।

- -

१- शंकर्स टीचिंग इन हिज ओन वर्ड्स पृ०२२

२- भक्तिसंज्ञा विपक्वायां मतैव त्वयि प्रभो।
तस्यामापद्दशाख्या मुक्तिकल्पा कथं ततः॥ शिवस्तो० १६।१८

साक्षात्कार होता है[1] जब कि द्वैत भक्तको बहुत समय तक शिव साक्षात्कार आदि पर हीं। संतोष करना होता है। आचार्य उत्पलदेव के मत में साधना के इस क्षेत्र में अन्य सिद्धों की अपेक्षा भक्त योगी ही ऐसा साधक है जो शीघ्र ही समावेश के द्वारा परमेश्वर के चिद्धन स्वरूप का साक्षात्कार करता है क्योंकि शास्त्रों के सम्यक् ज्ञान के बाद भी उन साधकों को भ्रान्ति हो सकती है। और यह भ्रान्ति ही उनकी असफलता का कारण है।[2] समावेश भक्ति मार्ग का साधक तो उत्कृष्ट कोटि की परभक्ति दशा में परमात्मस्वरूप साक्षात्कार रूप अमृत, सुख से सामने मोक्षादि की भी इच्छा नहीं करता पर ऐसा भक्त ज्ञानी भक्त होता है।

शास्त्रेषु न सुबहिष्कृता मता।

व्यक्तिसम्मुखमस्तेषु, हे: प्रभो:

मोक्षमार्ग रागारक्षापि मार्गेना

स्मर्यते हृदय हारिणा:पुर: ।।शिवस्तो १८।२६

आचार्य महो य के मत में जहाँ एक और उक्त प्रकार का उत्कृष्ट कोटि का साधक समाधि एवं व्युत्थान दोनों ही अवस्थाओं में परमेश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार करता है। वहीं दूसरी ओर अवर कोटि के भी साधक होते हैं जिनके समक्ष व्युत्थान में भेदमयी दशा बनी ही रहती है।[3] तात्पर्य यह है कि परमेश्वर की शक्तिपात रूप वर्षा सर्वत्र सभी जीवों पर होती तो है परन्तु असमान रूप से होती है। जहाँ तक स्वरूप समत्कार का प्रश्न

- -

१- सर्वेश भक्तेश्वरायां देन्यांश अयंत्मयम् ।
विमृश्याक्यावयन्त्येके मधुरं सुखायकम्।।शिवस्तो० १६।१३

२- भ्रान्तास्ताथ दृष्टी भिन्ना भ्रान्तैरेव हि भिन्नता ।
भिन्नविद्वन्दि वस्त्वेकं भक्तानां त्वं तु राजसे ।। शिवस्तो० १६।१४

३- सर्वेवस्तुनिष्ठकभिवाना
स्वात्मस्वात्मस्थवदतासितं शिवमयम् ।
कस्य मे सुरसो निव आत्मा
न त्वमेव घटसे परमात्मन् । शिवस्तो० १३।२

है। यह शक्तिपात की मात्रा के अनुसार प्रकट होनेवाली जीवों की अपनी२ योग्यता पर आधारित है जिसके आधारपर कोई तो शीघ्र ही परमेश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार करके बन्धन मुक्त हो जाताहै और कोई विलम्ब से मुक्ति का पात्र होता है। अन्ततः इस कार्य क्रम में परमशिव का स्वातन्त्र्य ही प्रधान है। आचार्य उत्पलदेव शांकर अद्वैत वेदान्त के ब्रह्म की भाँति बन्धन मोक्षादि कार्यों एवं अन्य जागतिक कार्यों से सर्वथा निर्लिप्त नहीं है। वेदान्त के अनुसार तो मोक्ष का एक मात्र साधन ज्ञान ही है[१] जो जीव के अपने यत्न पर निर्भर है। जबकि काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार ऐसा नहीं है वहाँ तो जीव के यत्न का भी मूल कारण परमेश्वर का अनुग्रह होता है। अतः आचार्य उत्पलदेव के कथनों के अनुसार परमेश्वर का अनुग्रह ही एकमात्र मोक्ष का कारण है उसके अनुग्रह से ही शारीरिक एवं मानसिक दुःखरूप अन्धकार दूर होतेहैं, जिससे स्वरूप साक्षात्कार रूप परमानन्द होता है।

> नाथ सांमुख्यमायान्तु शुद्धास्तव रश्मयः ।
> यावत्कायमनस्तापतमोभिः परिमुच्यताम् ॥ शिवस्तो० १३।१०

उनके मत में सत्वादि तीनों गुण एवं इन्द्रियादि ही जीव के बन्धन के कारण होते है, इन बन्धनों की निवृत्ति परमेश्वर के शक्तिपात रूप अनुग्रह के बिना सम्भव नहीं एक बार जीव पर परमेश्वर का शक्तिपात हो जाने पर तो बाद में अध्यात्म साधना के द्वारा उसे परमेश्वर का अधिक अधिक अनुग्रह प्राप्त होता ही रहेगा। फलस्वरूप मोक्षादि की

- -

१- [illegible] ३।३, ~~iii~~, [illegible], ~~[illegible]~~

हो ब्रह्मज्ञानी शरीर धारण किये रहता है और यही ब्रह्मज्ञानी की जीवन्मुक्ति की अवस्था होती । आचार्य विद्यारण्य के अनुसार कर्तृत्वा- दि स्वभावत: क्लेश रूप है। अत: ये जीव को बन्धन में डालने वाले होते है। इसलिये इनकी निवृत्ति ही जीवन्मुक्ति है।[1] वेदान्त मत में जीव- न्मुक्त लोक कल्याण के लिये ही शरीर धारण करता है। आचार्य शंकर कहते है। अस्य , जीवन मुक्तस्य देहधारणं लोकस्योपकाराय ।

जीवन्मुक्ति की दशा मे अविद्या की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है अथवा अविद्या का कुछ अंश शेष रहता है, इस विषय में परवर्ती अद्वैता- चार्यों मे मतभेद है। आचार्य शंकर का ध्यान इस अवस्था की ओर नहीं गया । उनके अनुसार ब्रह्मज्ञान से अविद्या का पूर्णत: विनाश हो जाने पर यद्यपि मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। तथापि प्रारब्ध कर्मों का उपभोग द्वारा क्षय करने हेतु ब्रह्मवित शरीर धारण किये रहता है। किन्तु कतिपय आचार्यों के अनुसार जीवन्मुक्ति की दशा में प्रारब्ध कर्मों के साथ अविद्यालेश भी विद्यमान रहता है। और इसी के परिणामस्वरूप शरीर की स्थिति भी बनी रहती है ।

आचार्य शंकर के परवर्ती अद्वैताचार्यों में जीवन्मुक्तिका प्रत्यय अत्यन्त विवादास्पद रहा है। प्रकाशानन्द और सर्वज्ञात्ममुनि इन द्विविध आचार्यों के अनुसार ब्रह्मज्ञान का उदय होने पर अविद्या पूर्णत: नष्ट हो जाती है।[2]

- -

१- जीवत: पुरुषस्य कर्तृत्वभोक्तृत्वसुखदु:खादिलक्षणा: चित्तधर्मा: क्लेशरूपत्वात् बन्धो भवन्ति तस्य निवारणात् जीवन्मुक्ति: ।

जीवन्मुक्ति-विवेक पृ०११ आनन्दाश्रमसंस्कृत

२- सर्वज्ञात्ममुनयस्तु विरोधि साक्षात्कारोदये लेशतोऽप्यविद्यानुवृत्यसम्भवात् जीवन्मुक्ति शास्त्रं श्रवणादि विधिशेषार्थवादमात्रं शास्त्रस्य जीवन्मुक्ति प्रतिपादने प्रयोजनाभावात्।

हे नाथ प्रणतार्तिहिना नष्टो येयोगिये पुर्वैटे

दुःखैकायतनस्य जन्ममरणात्रस्तस्य मे साम्प्रतम् ।

तच्चेष्टस्व यथा मनोज्ञविषयास्वादप्रदा उत्पमाः ।

जीवन्नेव समश्नुवेऽहमचला: सिद्धीस्त्वदर्चापर: ।।

ईश्वरोऽहमहमेव रूपवान्

मानिता त्वदनुरागगिरा: परम्[1]

डा० उत्पलदेव के विचार में समावेशमयी जीवन्मुक्ति की दशा में प्राणी अपने आप को साक्षात् परमेश्वर स्वरूप समझता हुआ समस्त शिव को अपना शरीर जैसा समझता हुआ व्यवहार दशा मे भी अद्वय भाव में ही ठहरता है ।

निजनिजेषु पदेषु पतन्त्विमा:

करणवृत्तय उल्लसिता मम ।

क्षणमपीश मनागपि मैव भूत्

त्वदविभेदरसक्षतिसाहसम् ।।

इस तरह से उत्पलदेव की जीवन्मुक्ति परिपूर्ण ऐश्वर्यमयी होती है । जबकि वेदान्तीय जीवन्मुक्ति समाधि काल में शून्यप्राय और व्युत्थान में जीवदशा जैसी होती है ।

अद्वैत वेदान्त जिस अज्ञान की निवृत्ति के द्वारा जीवन्मुक्ति की प्राप्ति बताता है उस अज्ञान के स्वरूप में ही दोनों दर्शनों में मतैक्य नहीं है। अद्वैत० वेदान्त में जीवन्मुक्त को ज्ञान की दशा में जगत के मिथ्यात्व का ज्ञान हो ही चुका होता है[2]। जबकि आचार्य उत्पलदेव के मत में जीवन्मुक्ति के लिये

१- क- विकसतु स्ववपुर्विकासमकं।

सम्मुखान्तु कान्ति ममाह्न तानु ।

प्रसृतु सर्वमिदं अवलोकितं

कंप्य शिवपीकामेअप्यनुपाप्यताम् ।। शिवस्तो० ८।७

ख- शिवस्तो० ८।५

२- भारतीय दर्शन की रूपरेखा प्रा० हिरियन्ना पेज० ३७८

कि जब दोनों दर्शनों के ज्ञान अज्ञानादि सिद्धान्तों में ही मतैक्य नहीं तो फिर जीवन्मुक्त आदि सिद्धान्तों में मतैक्य का प्रश्न ही नहीं उठता सिद्धान्त के प्रतिपादन में भले ही कुछ साम्य हो ।

आचार्य उत्पलदेव के मत में जीवन्मुक्त अवस्थासाधक की वह उत्कृष्ट दशा होती है, जहां द्वैत का नाम-निशान भी नहीं रहता, उसके अज्ञान के सभी बन्धन नष्ट हो जाते है। ऐसे साधक के लिये संसार की सभी वस्तुएं शिव से अभिन्न प्रतीत होती हुयी परमानन्द की साधिका होती है उस दशा में वह परमशिव से भिन्न कुछ भी नहीं देखता ।[1] अद्वैत वेदान्त में जीवन्मुक्त की यह दशा सर्वथा भिन्न प्रतीत होती है। उसकी दृष्टि जगत को मिथ्या समझने की होती है।

१- कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते ।
कालकूटमपि मे महामृतम् ।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपु ।
र्भेदवृत्ति यदि रोचते न मे ।। शिवस्तो० १३।१७

परमानन्द को प्राप्त कर लेने वाला ऐसा सिद्धजन प्रत्येक भूमिका में, शिव, को ही प्राप्त करता है। वह संसार की प्रत्येक वस्तु में शिव रूप का ही दर्शन करता है।[१] सर्वत्र शिव भाव का दर्शन करने वाले ऐसे सिद्धजन के लिये इन्द्र वरुण आदि देवगणों के लिये वाञ्छनीय स्वर्गादि भी तुच्छ होते हैं।[२] क्योंकि स्वर्गादि भी तो किसी न किसी मद से आवृत होते हैं। तात्पर्य यह है कि ऐसे सिद्धजनों के मन से विषय भोगादि की अभिलाषा समूल नष्ट हो जाती है। क्योंकि उन्हें अपने परिपूर्ण ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति का ही चमत्कार होता रहता है, उसके सामने स्वर्गादि सुख फीके पड़ जाते हैं।

आचार्य उत्पलदेव द्वारा प्रतिपादित यह शैवी दृष्टि सांख्य, वेदान्तादि दर्शनों में प्रतिपादित उत्कृष्ट मोक्ष की स्थिति से भी उत्कृष्ट सत्य तात्विकता को ही अपना परमलक्ष्य मानता है। उसके अनुसार तो पुरुष और प्रकृति का परस्पर औदासीन्य ही कैवल्य है। अथवा अथवा केवल पुरुष का ही प्रकृति एवं उसके विकारों से पृथक होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाना ही परम कर अत्यन्त तटस्थ और उदासीन पुरुषार्थ अवस्था है।[३] तात्पर्य यह है कि मुक्त पुरुष का किसी सुख: दुःखादि से सम्बन्ध नहीं रहता है किन्तु आचार्य उत्पलदेव के मत में तो मुक्त सिद्धजन इस संसार की प्रत्येक अवस्था से गुजरता हुआ उसी में सर्वत्र पारमार्थिक चिदानन्द का लाभ प्राप्त करता है। उसकी दृष्टि व्यापक होती है, फिर तो वह सर्वत्र स्वात्म शिव का ही दर्शन करता है। ऐसी स्थिति में सांसारिक विकार उसके चित्त को कलुषित करने में

१- कां भूमिकां नाधिशेषे किं तत्त्वमस्ति ते वद: ।
शाम्भवीनाप्रकाशनी सर्वात्मत्वानदासुखात् ।। शिवस्तो० ६।१८

२- येन मनागपि मच्चरणाम्भो
प्रभृतिरमाथेन विसृष्टा: ।

जब तक आत्मा में कर्मादि का संचय होता है तब तक शुभाशुभ कार्यों के भोग के लिये आत्मा शरीर धारण किये रहता है। किन्तु अपवर्ग में आत्मा समस्त प्रवृत्तियों का परित्याग कर देता है और उदासीन भाव में ठहरा रहता है। आचार्य उत्पलदेव का दृष्टिकोण इससे बहुत ही उत्कृष्ट कोटि का है। उनकी दृष्टि में जीवन-जीव मुक्तिको प्राप्त करने के अनन्तर भी शरीर धारण किये रहता है। ऐसे सिद्ध को सांसारिक विकार विकरित नहीं कर सकते क्योंकि अपनी शैवी दृष्टि से वह सर्वत्र शिव के ही दर्शन करता है। उसकी दृष्टि में यह भाव भी तभी तक हेय रहता है। जब तक इसे उस परमशिव के स्वरूप से भिन्न समझकर समझा जाता है। किन्तु इसी केवली शैवी दृष्टि[1] के होने पर सर्वथा ग्राह्य अर्थात स्वरूपता सम्पन्न बन जाता है।

विभिन्न दर्शनों के तुलनात्मक अध्ययन के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि इन दर्शनों में प्रतिपादित मोक्षादि सिद्धियां सर्वथा नीरस एवं शुष्क हैं। आचार्य उत्पलदेवकी शैवी दृष्टि के समक्ष तो मोक्षादि सिद्धियां सर्वथा निम्नस्तर की हैं। शैवी दृष्टि प्रधान सिद्धजन तात्विक दृष्टि से ब्रह्मा आदि देवताओं को शिव के स्वरूप का स्फार मानता हुआ केवल शिव को ही सर्वस्व समझता है। उसकी दृष्टि में शिव ही स्तुत्य, स्तोत्र, स्तुति तथा स्तुतिकर्ताकी रूप में भासमान रहता है।[2] अतः वह शिवसमावेश में स्वरूप साक्षात्कार के समक्ष किसी उत्कृष्टसिद्धि को प्राप्त करनेका कभी भी इच्छुक नहीं होता इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव स्तोत्रावलि में प्रतिपादित शैवी दृष्टि के समक्ष समस्त सिद्धियां

१- त्यक्तानिराकृतं सर्वं हेयमेतत्तथैव तु।
तदन्यद्वं समुपादेयमित्ययं सारसंग्रहः॥ शिवस्तो० १३।१२

२- क - येन नै भवतोभिन्नं विभिन्नं
किंचनापि जातं प्रभवत्य।
त्वद्दिग्भ्यस्तमतोद्भुतकर्म।

शिव रूप ही होता है। शिवस्तो० में वेदादि का आश्रय लेने वाले समस्त दर्शन शास्त्रों के सिद्धान्तों को किसी न किसी रूप में यथार्थ माना गया है। किन्तु उसमें परमशिव विश्व-रूप को ही सर्वोपरि माना गया है। परमशिव का स्वातन्त्र्य ही इस सांसारिक महानाटक का एक मात्र आधार है। वही वेदान्तादि दर्शन के आधार भूत वेदादि का सृष्टा है उ-उसको सत्ता सर्वोपरि है।[1]

आचार्य उत्पलदेव के मत में इस सिद्धजन की दृष्टि में परमार्थतया सांसारिक नाट्यका अन्त हो जाता है, जिसकी दृष्टि विकल्प रहित भाव से शाम्भव समावेश क्रम से प्रत्येक वस्तु में शिव के स्वरूप को ही देखती है जिसे देखता से परिपूर्ण बना हुआ वह सिद्ध संसार में विचरण करता हुआ भी सदैव परमानन्द की मस्ती में मस्त रहता है।[2] परमेश्वर के अनुग्रह से जब जीव बन्धन के कारण बने हुए आशापाशादि पाशों से निवृत्त हो जाता है तब उसके सांसारिक दुःखों का अन्त होता है और शैवी दृष्टि का अभ्युदय होता है, शैवीदृष्टि के खुल जाने पर जीव संसार में होने वाले मित्र बन्धुबान्धवादि को उन उन रूपों में नहीं देखता उसकी दृष्टि में मित्र बन्धु- बान्धवादि सब कुछ शिव ही होता है। शिव के अतिरिक्त उसकी दृष्टि में कुछ भी यथार्थ नहीं होता है।[3] ऐसी शैवी दृष्टि के अभ्यु-दय के अनन्तर वह धर्माधर्म शुभाशुभकार्यों, ज्ञानाज्ञान तथा सुख दुःखादि द्वन्द्वों

- -

अप्रयत्नं तिष्ठसि पूर्णरूप: ।
बहिरन्तरपोह दह्यमान:
स्फुरसि दृष्टवीर एवं शाश्वतु ।। शिवस्तो ४।२५

१- वेदनिर्माणकृताय वेदागमविधायिने ।
वेदांगमहतत्त्वाय गुह्याय स्वामिनेनम: ।। शिवस्तो २।७

२- यो अविकल्पमिदमर्थमण्डलं, पश्यतीश निखिलं भवद्वपु: ।
स्वात्मपक्ष परिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिन: कुतो भयम् ।। शिवस्तो० १३,१६

३- जातिमय वा शिवदी
बन्धुवर्गो वा न भवति मम किमपि ।
त्वयि पुनरेतत्सर्वं
यदा तदा कोऽपरो भवस्तु ।। शिवस्तो० ११।२

चतुर्थ -अध्याय

वाले भक्तजन ही अद्वय पूजा के परमानन्द की प्राप्ति करने के अधिकारी होते हैं[1]।

आचार्य उत्पलदेव के अनुसार उत्कृष्ट कोटि की ऐसी पूजा में नियमों का कोई बन्धन नहीं है। साधक स्वेच्छा से जब चाहता है तब २ समावेश में परमेश्वर के उन २ स्वरूपों में चित्त को एकाग्र करके अद्वय पूजा-पान करने में निमग्न हो जाता है।[2] और यह ठीक भी है। क्योंकि अत्युत्कृष्ट कोटि की भक्ति की महिमा से साधक को परमेश्वर का समावेश प्राप्त हो जाता है तो फिर उसके लिये नियमों की परिधि में बंधन अनुपयुक्त ही है। ऐसे भक्त के लिये पूजा के आरम्भ के समय इष्टदेव का आवाहन एवं पूजा के अन्त में विसर्जन आदि नियम आवश्यक नहीं होते। अद्वय पूजा की साधना में संलग्न साधक काम, क्रोधादि सभी विकारों को परमशिव को ही अर्पित करके पूर्णतः विशुद्ध चित्तवृत्तियों वाला होकर परम पद प्राप्त करता है। अतः यह सही है कि इस प्रकार की अद्वय पूजा में प्रायः क्रोधादि ही पत्र पुष्प की जगह प्रयुक्त होते हैं[3] और यह उपयुक्त भी है क्योंकि पत्रपुष्पादि के अर्पण से चित्त शुद्धि नहीं हो सकती किन्तु काम क्रोधादि के अर्पण से तो चित्त पूर्णतया शुद्ध हो जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी यह बात भगवान कृष्ण ने कही है। उनके अनुसार जिस भक्त से किसी को किसी भी प्रकार का कष्ट नहीं प्राप्त होता और न जिसे दूसरों से ही कष्ट प्राप्त होता है। ऐसा उत्कृष्ट कोटि का ज्ञानी भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय है-[4]

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते चः ।

हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

१- क्वा त्वमेव कथः पूजाचन्द्रनिभाननम् ।
तथैव भक्तिमानेव पूजाचन्द्रनिभाननम् ॥ वही १७।२८

२- स्वच्छन्दस्वरूपाणी सर्वं ज्ञानादिनर्तिते ।
चिन्त्यमाना समष्टि प्रतिष्ठां त्वयि यामपि ॥ ७।१८

३- क्रोधक्षोभादि नानुल्लापुष्पोपहाराः सदा ।

शिवमहापुराण में यह मन्त्र साधक को भगवान शिव शंकर की भक्ति में चित्त को स्थिर करने के लिये ही प्रस्तुत किया गया है। किन्तु चित्त तब तक स्थिर नहीं हो सकता जब तक कि आराध्य में आराधक की परिपूर्ण भक्ति भावना स्थिर नहीं होती। आचार्य उत्पलदेव ने शिवस्तो० में भक्तिकी प्राप्ति के लिये परमेश्वर के अनुग्रह को आवश्यक बताया है। यह बात <u>एवं भवत्या प्राप्यते भक्तिः प्राप्तेत्यपि च नाथ भवान्</u> इस उक्ति से प्रमाणित होती है।

अद्वैत वेदान्त के मूर्धन्य मनीषी आचार्य शंकर ने भी पूजा, अर्चना इत्यादि को परमेश्वर में भक्ति भाव जागृत करने का ही साधन बताया है। चर्पटपंजरिका में उन्होंने गोविन्द के भजन का उपदेश देकर साधक को परमार्थ की ओर प्रवृत्त कराने की चेष्टा की है[1]। अतः सिद्ध है कि आचार्य शंकर के मत में भक्ति मोक्ष का एक सुन्दर साधक है, क्योंकि शिवस्तो० में आचार्य उत्पलदेव ने भक्ति को मोक्षात्मक ही माना है[2]। श्रवण, कीर्तन, पूजा इत्यादि परमभक्ति के साधक हों, यह बात और है। दोनों में साम्य इतना है कि आचार्य शंकर ने पूजा इत्यादि के द्वारा क्रमशः प्राप्त होने वाली उत्कृष्टतर भक्तिको फलरूप प्राप्त करनेका साधन माना है[3] और उत्पलदेव ने समावेश भरी अवयभक्ति को ब्रह्मानुभूति स्वरूप ही माना है, उसका साधन नहीं, वहाँ तो साधन ही साध्य पद पर आरूढ हो जाता है। यह अद्वैत साधन का माहात्म्य है।

आचार्य उत्पलदेव ने समावेशशाली उस भक्ति की अत्यधिक प्रशंसा की है, जो विश्वोत्तीर्णता एवं विश्वात्मकता दोनों ही दर्शाती

- -

१- भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते। चर्पटपंजरिका

२- उपचारपदं पूजा केवलाखिल सम्पदाम्।

भक्तानां भवदैकात्म्यनिर्वृतिप्रसरस्तु वः। शिवस्तो० १७।४०

३- लघुरपि येन मुरारिरवाप्ती क्रियते तस्य यमेन न चर्चा।

के मध्य भूलता हुआ हमेशा परमशिव की अद्भुत पूजा में संलग्न रहता है ।

अद्भुत पूजा की मस्ती में मस्त रहने वाला भक्त संसार में रहते हुए भी भेद कालुष्य से सर्वथा मुक्त रहता है। ऐसे पूजक को आचार्य महोदय ने ब्रह्मादि देवताओं एवं मुक्त पुरुषों से भी उच्च कोटि का माना है। उनकी दृष्टि में ऐसा पुरुष अवर्णनीय महत्व वाला ही होता है ।[१] आचार्य उत्पलदेव की दृष्टि में अभेद प्रधान दृष्टि वाले ऐसे पूजक के लिये पूजा का प्रमुख उपकरण यह भेदात्मक जगत् ही होता है क्यों कि परिपूर्ण अभेद की स्थिति में छत्तीस तत्वों के क्रमशः एक दूसरे में विलीन हो जाने से अन्त में विशेषता की प्राप्ति होती है।[२] अभेदात्मक दृष्टि वाले ऐसे पराद्वैत साधकों की शरीर एवं इन्द्रियादि सदैव परमानन्द की प्राप्ति में ही संलग्न रहते है। दूसरे शब्दों में कहा जासकता है कि इन्द्रियों के जो व्यवहार सामान्य साधक के लिये साधना के मार्ग में बाधक होते है वही अद्भुत पूजक के लिये परमानन्द के साधक होते है।[३] क्योंकि वह जिस जिस विषय का ग्रहण इन्द्रियों से करता है उस उस विषय को शिवमय ही देखता हुआ शिवभाव से समाविष्ट होता रहता है ।

आचार्य उत्पलदेव ने साधकों के स्वभाव और प्रवृत्ति में विभिन्नता के कारण पूजा को द्विविध निरूपित किया है। उनके मत में एक प्रकार के पूजक वे होते है, जो किसी दृष्टि ऐश्वर्य की सिद्धि के लिये समावेशमयी पूजा में संलग्न रहते है, किन्तु दूसरे प्रकार के पूजक वे होते है अन्तर्मुख होकर

- -

१- पेयामृतापानमयो येषां भोगः प्रतिक्षणम् ।
किं देवा उत मुक्तास्ते किं वा केऽप्येव ते जनाः ।। शिवस्तो० २०।३४

२- पूजोपकरणीभूतविश्वावेशनगौरवम् ।
अहो किमपि भक्तानां किमप्येव च लाघवम् ।। वही २०।३५

३- पूजामृतापानविधौ शरीमादेवाम लोष्ठकः ।
भक्तानां शरीरजडपिण्डोमादिव दिवौकसाम् ।। वही २०।३६

निष्काम भाव से पराद्वैत की भूमिका पर पहुँचकर परमानन्द की प्राप्ति करते है। इन दोनों प्रकार के भक्तों में दूसरे प्रकार का भक्त श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट होता है।

श्रीमद्भगवद्गीता मे भी सकाम और निष्काम दो प्रकार के साधक बताये गये है, जिनमें निष्काम साधक को श्रेष्ठ निरूपित किया गया है। गीता के अनुसार सकाम साधक स्वर्ग तो प्राप्त करता है किन्तु पुण्य क्षीण हो जाने पर उसको पुन: जन्म मृत्यु के चक्कर में फँसना पड़ता है। जबकि निष्काम भाव से एकाग्र चित्त से परमेश्वर की आराधना करने वाला भक्त प्रायः सार्वकालिक मुक्ति का भाजन होता है। आचार्य उत्पलदेव ने भी अनन्यभाव से समावेशात्मक स्थिति को प्राप्त करने के अनन्तर शिव पूजा की मस्ती मे व्यवहार दशा को विस्मृत कर देने वाले साधक की बड़ी प्रशंसा की है।-

> स्वरसोदित युष्मदङ्घ्रिपद्म ।
> द्वयपूजामृतपान् सक्तचित्त: ।
> सकलार्थक्रियासु भवेयम्
>
> सुखसंस्पर्शनमात्रलोलुपात्म: ॥
>
> शिवस्तो० १८।४

- -

१- ते-सं-भुक्तवत-स्वर्ग पूंजा केचन मन्यन्ते धेनुकामदुधामिव।
सुधाधाराधिकस्वादां ध्यायन्तयन्तमुत्ता: परे। वही १७।३७

२- ते तं भुक्तवा स्वर्गलोकं विशाल क्षीणो पुण्ये मर्त्यलो विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते। गीता ९।२१

३- अनन्यश्चिन्तयन्तो मां ये जना: पर्युपासते।
तेषांनित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्। वही ९।२२

शिवस्तो० में सर्वत्र समावेश प्राप्ति के लिये साधक तीव्र इच्छा शक्ति के निर्विकल्प प्रयोग करता हुआ सा दृष्टिगत होता है। इस आशय का एक पद प्रस्तुत किया जा सकता है:-

सकलव्यवहार गोचरे।
स्फुटमन्तः स्फुरति त्वयि प्रभौ।
उपयान्त्वपयान्तु वा निशम्
मम बद्ध मुनि विभान्तु सर्वदा ।। शिवस्तो० १८।७

तात्पर्य यह है कि उक्त पद में साधक अपनी अप्रतिहत इच्छा शक्ति के द्वारा शाम्भवी समावेश को प्राप्त करके सांसारिक वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को देखने का प्रबल इच्छुक निरूपित किया गया है। समावेश शाली ऐसे साधक को सांसारिक नश्वर वस्तुओं एवं क्रियाओं में कोई आसक्ति नहीं रह जाती क्योंकि भक्ति रस के प्रवाह में व सतत बहने के कारण उसे मात्र शिव से ही अनुराग होता है और इस प्रकार शनैः शनैः वह शिव के विश्वात्म भाव का अनुभव करने लगता है। यही उसका चरम लक्ष्य होता है।[1] समावेशशाली ऐसे साधकों का उद्देश्य निर्विकल्पक नहीं होता वे तो शरीर धारण किये रहते हुए भी सांसारिक क्रिया कलापों में सक्रिय रूप से भाग लेते हुए भी सर्वत्र समावेश की मस्ती में मस्त होकर परमशिव की आनन्द स्वरूपता का अनुभव करना चाहते हैं।[2]

आचार्य अभिनव गुप्त भी समावेश की परा अवस्था में परमानन्द की प्राप्ति होती है, इस तथ्य के प्रबल समर्थक थे इस सम्बन्ध में उन्होंने महोपदेशविंशतिकम्[3] में लिखा है।

- -

१- अभिमानकपहारतो,
महतामभिमतमरेण वाल्पतात्।
परितोषगतः कदा भवान्

अनुपाय बन जाता है।

काश्मीर शैव दर्शन मे इन उपायों को योग की संज्ञा प्राप्त क्यो है।[1]

शिवस्तो० में सर्वत्र क्रियोपाय, और शाक्तोपाय की अपेक्षा शाम्भवोपाय को अधिक महत्व दिया गयाहै। उसमे सर्वत्र साधक अनुपाय समावेश की प्राप्ति के लिये लालायित हो दिखायी पड़ता है। उसमें साधक हमेशा यही चाहता है। कि उसका चित्त वासनाओं से शून्य होकर विकल्प रहित हो जाय ऐसी स्थिति मे वह जो भी कृत्य करेगा। परमेश्वरात्मक ही करेगा इसीलियेशिवस्तो०में चिन्ता दैन्य, औत्सुक्य,अधीरता, और वेदना इत्यादि भाव स्थान २ पर दृष्टिगोचर होते है। आचार्य उत्पलदेव का शिवस्तो में शाम्भवोपाय को प्रधानता देने का लक्ष्य सामान्य साधक के लिये भी साधना के मार्ग को प्रशस्त करने का प्रतीत होता है, क्योंकि शाम्भवोपाय की अपेक्षा अन्य मार्ग उतनेसुगम नही है जिससे कि शिवैकता की प्राप्ति सामान्य साधक कोभीहो जाय। किन्तु इस कथन का यह आशय नही समझना चाहिए कि आचार्यउत्पलदेव ने अन्य उपायो की उपेक्षा की है।शिवस्तो० में हीउन्होने ज्ञान, भक्ति योग का अद्भुत समन्वय स्थापित किया है। जैसा कि आगे निरूपित किया जायेगा। किन्तु इतना अवश्य हैकि उन्हे ज्ञान, योगादि के जटिल साधनोपायो की अपेक्षा शाम्भवोपाय का मार्ग अधिक प्रिय एवं रुचिकर था। आ० उत्पलदेव के मत मे ध्यान जपादि के बिना भी मात्र परमेश्वर के अनुग्रह से ही शाम्भवोपाय के द्वारा शिवैकता की प्राप्ति हो सकती है।[2] शिवस्तो में कही २ ऐसे स्तोत्र भी देखने को मिलते है। जिनमें शाम्भवोपाय कीसाधना मे ज्ञान शक्ति की भी सहायता ली गयी है। उदाहरण के लिये निम्न श्लोक को प्रस्तुत किया जा सकता है।[3]

१- काश्मीर शैवदर्शन डा० बी० एन० पण्डित पेज १८३

२- न ध्यायतो न जपतः - - - - - - - शिवस्तो० १।१

३- शिवस्तो० १०।२४

सदस्तत्व भवानेव येत तेनाप्रयातत: ।
स्वरहैनेव मार्वस्तया सिद्धि: कथं न मे ।।

यहाँ पर उक्त स्त्रोत्र में ज्ञान शक्ति की सहायता के द्वारा शाम्भवयोग से बिना ध्यानादि क्रियाओं के ही परमैक्य प्राप्ति में प्राप्त होते है । किन्तु ऐसे स्तोत्रों में ज्ञानोपाय का आरोप असंगत होगा क्योकि परमेश्वर को चित,आनन्द इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये पांचों शक्तियाँ क्रमश: सम्मिलित रूप से अपना २ कार्य करतीरहतीहैं, जिस अवस्था मे जिस शक्ति की प्रधानता होतीहै, उस अवस्था का उल्लेख उसी शक्ति के नाम से किया जाता है ।

शाम्भव योग कीसाधना मे मातृका का भी प्रयोग शिवसूत्रो में किया गया है, मातृ का केअनुसार साधक कोइस बात का सहसात् अनुभव हो जाता है कि समस्त विश्व मुझ में ही प्रतिबिम्बित है, और मेरी ही शक्तियों का प्रतिबिम्ब है । उसे अपने स्वरूप की अनुभूति अ से अ: तक के स्वरमें वर्णो के रूपमें और अपनी शक्तियों के प्रतिबिम्बों कीअनुभूति क-से ह तक के वर्णों के रूप में होती है। क पृथ्वी तत्व होता है। और हं शक्तितत्व शक्ति तत्व है इस तरह से साधक कोअपना ही स्वरूप और अपना ही स्वभाव अ से लेकर ह तक क वर्णों के रूपमें चमक उठता है। क पृथ्वी तत्व के रूप में और ह शक्ति तत्व के रूपमें आपरोक्ष भाव से प्रकाशित हो उठता है।इस वर्णमाला का इस क्रम मे प्रकाशित होना ही मातृ का योग है। यह मातृका शाम्भवयोग की साधना में शिवशक्ति के सामरस्य के रूप प्रकट हो जातीहै। मातृका के अतिरिक्त मालिनी भी शाम्भवयोग की साधना

१- मत्परं नास्ति तत्रापि जापकोऽस्मि त्वदेकत: ।
तत्वेन जप इत्युदात्माख्या दिशसि क्वचित् ।। वही ३।१७

२- काश्मीर शैव दर्शन डा० बी० एन० पण्डित पेज १८६

में सहायक होता है। काश्मीर शैवदर्शन मे मातृका को अक्षुब्ध वर्णमाला और मालिनी को क्षुब्ध वर्णमाला कहा गया है।[1] शाम्भवयोग से के सकल योगी को प्रत्येक अवस्था मे शिवैकता का अनुभव होता रहता है। इसलिये यह योग भावनात्मक जप, ध्यान, पूजा होम आदि उपायों से विशिष्ट ज्ञानयोग से श्रेष्ठ एवं उत्कृष्ट है।[2]

श्री मद्भगवद्गीता के छटवें अध्याय में भी शाम्भवयोग की साधना पर बलदिया गया है। भगवान कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा हैकि परमात्मा की प्राप्ति रूप लाभ को प्राप्त कर लेने वाले योगी को सांसारिक क्रिया कलाप लेशमात्र भी विचलित नहीकरते।[3] भगवतगीता मे उपादिष्ट यह निर्विकल्प योग वस्तुतः वही योग है। जिसे शैव दर्शन में शाम्भवयोग कहा गया है। उसी योग के सम्बन्ध में गीता में निम्नश्लोक प्रयुक्त हुआ है।[4]

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ।।

इन्द्रिय संयम पूर्वक विषय भोगोंका त्याग करके साधना करना तप है। शास्त्र और गुरु के उपदेश के द्वारा विवेक बुद्धि से साधना करना ज्ञानयोग है और यज्ञ दान, पूजा इत्यादि शास्त्र विहित कार्यों को सकाम भाव से करने वाला कर्मी है। इन तीनों योग साधनाओं से उत्कृष्ट योग समत्व योग है, वह इसी को काश्मीर शैव दर्शन में शाम्भव योग कहा गया है। इस सम्बन्ध में डा० बलजिन्नाथ पण्डित ने उक्त श्लोक के सम्बन्ध में अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा हैकि इस श्लोक में प्रयुक्त शब्द- तपस्वि, और ज्ञानि, कर्म, क्रमशः क्रियायोग और ज्ञानयोग के वाचक है अतः इनसे उत्कृष्ट

१- काश्मीर शैव दर्शन डा० ब० एन० पण्डित पेज १४६

२- जपतां जुह्वतां स्नातां ध्यायतां न च केवलम्।
भक्तानां भवदभ्यर्चामहो यावत्सदा तदा ।। शिवस्तो० १७।८

३- यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।

वही शाम्भवयोगी होते है।[1] महाकवि कालिदास के कुमार सम्भव महाकाव्य के तीसरे सर्ग के ४५, ४७,४८, श्लोकों में भी शाम्भव योग का स्पष्ट वर्णन किया गया है।[2] गीता मे एक अन्य स्थल पर शाम्भव समावेश जैसी अवस्था की प्राप्ति के लिये क्रमश: उच्चतर भूमियो की प्राप्ति काविधान किया गया है।[3] गीता मे क अन्य स्थल पर शांम्भव समावेश जैसी अवस्था की प्राप्ति के लिये क्रमश: उच्चतर भूमियोकी प्राप्ति का विधान किया गया है।[3] इस प्रकार गीता के योग में औरशाम्भव योग में पर्याप्त साम्य परिलक्षित होता है। गीता में आद्योपान्त भगवान् श्रीकृष्ण ने शाम्भव योग की साधना पर ही बल दिया है।उनका मुख्य उपदेशयहीहैकि मानव को चाहिए कि साम्यत्व रूपी शाम्भव योगपर आरूढ होकर संसार के सभी कार्य करना चाहिए। तब वे कार्य उसके लिये बन्धन नही बनते।

शाम्भवयोग की साधना एवं उसके सिद्धान्तों पर दृष्टिपात करने के अनन्तर यदिपातञ्जल योग से उसकी तुलना की जाय तो पातञ्जल योग हमे उससे बहुत ही पीछे दिखायी पड़ताहै। पातञ्जल योग में यम, नियमादि योग के विविध अंगों के अनुष्ठान के द्वारा विवेकख्याति का उदय होता है।[4] उसके बाद सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि की साधना करनी पड़तीहै। है। इस प्रकार पातञ्जल योग की प्रारम्भिक साधना अति कष्ट साध्य एवं दुष्कर है।किन्तु शाम्भव योग को सिद्ध करने वाला योगी समावेश के

- -

१- काश्मीर शैव दर्शन डा० बी० एन० पाण्डिय पेज १८१

२- वही ,, ,, ,,

३- युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानस: ।
शान्ति निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति ।। गीता ६,१५

४- योगाङ्गानुष्ठान ---- योग सूत्र २।२८

जिस आनन्द का अनुभव करता है वह आनन्द अष्टांग यो को सिद्ध करने वाले योगी को कभी भी नहीं प्राप्त होता।

शिवस्तो० में आचार्य उत्पलदेव ने शाम्भव योग की साधना को आत्मज्ञान प्राप्ति की निर्विकल्पक प्रक्रिया के रूप में स्वीकार किया है।[1] शाम्भव समावेश में एकाग्रता को प्राप्त करने वाले योगी की हमेशा यही तड़प रहती है कि वह परमेश्वर के समान ही निर्विकल्प अर्थात शुद्धचिन्दूप एवं परमानन्द घन स्वरूप हो जाय, यहाँ तक कि बाह्य विषयों का रसास्वादन करनेवाली उसकी जिव्हा भी परमानन्द की मस्ती मे परमेश्वर के नाम स्मरण का ही आस्वाद ले यही उसकी इच्छा होती है[2] और यही तो इच्छा योग है। उसी इच्छा योग की साधना के द्वारा ही तो नुपाय दशा की प्राप्ति होती है। यह बात और है कि शाम्भव योग की साधना को कर सकने में असमर्थ साधक क्रियायोग या ज्ञानयोग, की शरण ले सकता है पर शिवस्तो० मे तो स्थान २ पर इसी शाम्भव योग के ही दर्शन होते है। इस प्रकार शाम्भवयोग परार्द्ध की प्राप्ति का वह साधन है जिसके द्वारा केवल इच्छा शक्ति के प्रयोग से ही परमैक्य की प्राप्ति होती है।[3]

वेदान्तसाधना मे भी ज्ञान साधना को सर्वोच्च साधना के रूप में स्वीकार किया गया है अतः उसका सारा प्रयास अज्ञान निवृत्ति के द्वारा

१- निर्विकल्प भवदीय दर्शन ---- शिवस्तो० १२।७

२- निर्विकल्पो महानन्दपूर्णो यद्वद्भवांस्तथा ।
भवत्स्तुतिकरी भूयादनुरूपैव वाड्.मम ।। शिवस्तो० ६।४

३- एवं परेच्छाशक्त्यंशसदुपायमिमं विदु:
शाम्भवाख्यं समावेश सुमत्यन्तेनिवासिन: ।। तन्त्रालोक १।२३५

ज्ञानप्राप्ति मे ही होता है। किन्तु आचार्य उत्पलदेव की दृष्टि में समा-वेशात्मक आनन्द के बिना शुष्कज्ञान की पराकाष्ठा भी व्यर्थ है[1]।

इस प्रकार आ० उत्पलदेव ने शिवस्तो० में साधकों के लिये विभिन्न उपायों के प्रति निर्देश तो किये है। किन्तु इन उपायों में शाम्भव योग को अधिक महत्व प्रदान किया है और शाम्भवयोग से भी अधिक भक्ति को साधना के उच्च शिखर पर आरूढ़ किया है। वस्तुत: उनकी पराभक्ति भी तो शाम्भव योग की ही पराकाष्ठा है। उनका विश्वास था कि उस भक्ति के माध्यम से योग और ज्ञानादि की पराभूमि मे प्राप्त होने वाला आनन्द स्वत: ही प्राप्त हो जाता है। तभी तो उन्होने शिवस्तो० में स्पष्ट शब्दों में कहा है ।

न योगो न तपो नार्चाक्रम: कोऽपि प्रणीयते ।
अमाये शिवमार्गेऽस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते ।।

शिवस्तो० १। १८

- -

१ ज्ञानस्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा - शिवस्तो० १।६

ब- निर्व्युत्थान समाधि:-

शैव दर्शन मेंनिर्व्युत्थान समाधि से तात्पर्य उस अवस्था में है , जिस अवस्था में तत्वदर्शी साधक संसार के व्यवहार को चलाते चलाते भी प्रति-क्षण शिवभाव के समावेश में ही रहता है+ हुआ प्रत्येक क्रिया को पूजा के रूप में ही देखता हुआ सतत गति से स्वात्म शिवभाव की मस्ती में मस्त रहता है। आचार्य उत्पलदेव ने शिवस्तोत्रावलि में स्थान २ पर इसी अवस्था के प्रति एक तीव्र तड़पको अभिव्यक्त किया है। आचार्यउत्पलदेव के मत में निर्व्युत्थान समाधि की दशा को प्राप्त कर लेने वाला योगी परिपूर्ण स्वातन्त्र्य से युक्त होकर सभी दशाओं मे तथा सभी क्रियाओं में पूजा का आनन्द उठाता रहता है।[१] निर्व्युत्थान समाधि की दशा में साधक के समस्त विकल्प नष्ट हो जाते है। ऐसी स्थिति मे वह जो भी कृत्य करता है। सब परमेश्वरात्मक एवं निष्काम भाव से होते है। ऐसे साधक प्रत्येक सांसारिक चेष्टा पूजामय ही देखते है[२]। समावेश शाली समाधिस्थ साधक की दृष्टि में शिव की पूजा के लिये प्रयुक्त किये जाने वाले समस्त कर्म शिवमय ही होते है। तभी तो सांसारिक व्यवहारो को चलाते हुए भी ऐसा साधक समावेश काआनन्द प्रतिपल उठाता रहता है।[३] आचार्य उत्पलदेव का यही अभिष्ट सर्वत्र शिवस्तो० मेंपरिलक्षित होता है। उनकी दृष्टि में साधना की वह अवस्था प्रतिष्ठित है, जिसमें प्रत्येक दशा में अवस्थित रहने

- -

१- भवदन्भवदीयपादयो-
निर्विशन्नन्तर एवं सिद्ध निर्भर:।
भवभूमिषु। तासतास्वहं
प्रभुमभ्येयमलं गमश्रिय: ।। शिवस्तो० १२।८

२- निर्विकल्पभवदीयदर्शन
प्राप्ति फुल्लमनसां महात्मनाम् ।
उल्लस न्ति विमलानि हेलया
चेष्टितानि च सर्वाणि च स्फुटम् ।। वही १२।७

३- व्यापारा: सिद्धिा: सर्वे ये त्वत्पूजापुरस्सरा:।
भक्तानां त्वन्मया: सर्वेस्वयं सिद्धा एवते । शिवस्तो० १७।२

वाले परमशिव साधक एकात्म भाव से प्रत्येक वस्तु में उसी परमतत्व को देखता है।[1] यह अवस्था निर्व्युत्थान समाधि की ही अवस्था होती। निर्व्युत्थान समाधि की साधना में ध्यान आदि बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं होती। उसमें तो गुरु उपदेश और परमेश्वर के अनुग्रह की ही अपेक्षा होती है। समाधि सिद्ध होने पर तो समावेश निश्चित निश्चित ही होता है। समावेश की इसी दशा को शिवस्तो० में पूजाविधि, भी कहा गया है।[2] आचार्य उत्पलदेव ने शिवस्तो० में उस साधक की बड़ी प्रशंसा की है, जो संसार की प्रत्येक वस्तु में शिव को ही देखता है। वस्तुत: यह स्थिति निर्व्युत्थान समाधि में ही प्राप्त होती है। उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उस साधक को वे व्यथा कभी भी व्याप्त नहीं कर सकती जो शाम्भव समावेश क्रम से प्रत्येक वस्तु में शिव, को ही देखता है।[3] शिवभाव में समाविष्ट साधक संसार में रहता हुए जो भी क्रियायें करता है। वे सब पूजारूप ही होती है।[4] और यह ठीक भी है। क्योंकि शिवस्तो० में अन्यपूजा की यही विधि बतायी गयी है। इस पूजा को एक उत्कृष्ट ज्ञानमयी [illegible] विशिष्ट मानसिक पूजा भी कहा जा सकता है। क्यों कि इसमें साधक को बाह्य और कृत्रिम पूजा की सामग्रियों की आवश्यकता नहीं होती, इसलिये तो उसे समाधि नाम से अभिहित किया गया है। समाधि को प्राय: प्रत्येक दर्शन में चित्त को ध्येयाकार करने की साधना के रूप में स्वीकार

- -

१- सर्वदा सर्वभावेषु, युगपत्सकलेषु चिरात् ।
   त्वामर्चयन्तु(यि)त्वां ये मन्येऽधिदेवता: ।। शिवस्तो० १७।३

२- ध्यानायासतिरस्कारसिद्धसंस्पर्शनोत्सव: ।
   पूजाविधिरिति ख्यातोभक्तानां स सदास्तु मे ।। १७।४

३- यो अविकल्पमिदमर्थमण्डल पश्यतीशनिखिलं भवद्वपु: ।
   स्वात्मपक्ष परिपूरिते जगत्यस्य नित्यसुखिन: कुतोभयम् ।। शिवस्तो० १३।१६

४- यत्समस्तसुभगार्थवस्तुषु, स्पर्शनात्त्वयि विना चमत्कृतिम् ।
   तां समर्पयति तेन ते वपु:, पूजयन्त्यचलभक्ति शालिन: ।। १३।१४

किया गया है। यह बात और है कि वह शिवसूत्र० में परशिवात्मकता के रूप में स्वीकार कोगा ी है।

इस दृष्टि से अष्टांग योग शैवागमास्थ गीता आदि में प्रयुक्त होने वाली समाधि तथा शैव दर्शन की । समाधि। से पूर्णतया भिन्न है। शिवसूत्र आदि मे निरपुतपोत्थान समाधि की जो प्रक्रिया एवं उससे प्राप्त होने वाली भूमिका के समक्ष अन्य दर्शनों में वर्णित समाधि की प्रक्रियाएं एवं उससे प्राप्त होनेवाली भूमिका मे पर्याप्त मौलिक विभेद है।

पातञ्जल योग में सम्प्रज्ञात समाधि एवं असम्प्रज्ञात समाधि बतायी गयी है। सम्प्रज्ञातसमाधि की दशा साधक को दो प्रकार के उपायों से प्राप्त होता है। वे उपाय है अभ्यास और वैराग्य। योग सूत्र के अनुसार वितर्क, विचार, आनन्द और अस्मिता के अनुगम से सम्प्रज्ञात समाधि की दशा प्राप्त होती है।[2] सम्प्रज्ञात समाधि की दशा मे सात्त्विक वृत्ति का प्रकाश होता है। यह समाधि वितर्कनियत, विचारानुगत, आनन्दानुगत और अस्मितानुगत भेद से चार प्रकार की होती है।[3] सम्प्रज्ञात समाधि की दशा मे चित्तवृत्तियों का सम्यक निरोध होजाने पर भी ध्येयाकार सात्त्विक वृत्ति विद्यमान रहती है, इसलिये इस अवस्था को सबीज समाधि भी कहते है। इस समाधि के सिद्ध हो जाने पर प्रकृति पुरुष इन द्विविध मौलिक तत्वों की विविक्तता अथवा पार्थक्य का ज्ञान हो जाता है। सम्प्रज्ञात समाधि के चरितार्थ हो जाने पर विवेकख्याति के प्रभाव से सर्वज्ञत्व, सर्वभावाधिष्ठातृत्वादि एवं समस्त ऐश्वर्यों की सिद्धि हो जाती

१- अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः ... निरुद्धचित्तवृत्तेः कथमुच्यते सम्प्रज्ञात, समाधि

२- वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात्सम्प्रज्ञातः : योग सू० समाधिपाद ६

३- योगसूत्र १।१७

है, किन्तु योगीको इस फलो के प्रति कोई आसक्ति नहीं होती, अत:यह विवेकख्याति सदैव बनी रहती है। सम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा में व्युत्थान संस्कारों का नितान्त क्षय हो जाता है।[1] अत: इस पराकाष्ठा को धर्ममेघ समाधि भी कहा जाता है।

योग दर्शन मे कैवल्य के साक्षात् साधन के रूप में असम्प्रज्ञात समाधि को स्वीकार किया गया है। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था मे चित्त की ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध हो जाता है।[2] इस समाधि मे पुरुष की पूर्णत: स्वरूप प्रतिष्ठा हो जाती है। यद्यपि योग सूत्र ।१।१४ मेंयह उल्लिखित है कि इस समाधि मे निरोध संस्कार शेष रहते है। किन्तु इस सम्बन्ध मे भी व्याख्याओं में मतैक्य नही है। वृत्तिकार भोज के अनुसार जिस प्रकार सुवर्ण संवलित सीसा अग्नि मे सन्तप्त किये जाने पर सुवर्ण की कलुषता के साथ स्वयं को भी भस्म कर देता है। उसी प्रकार असम्प्रज्ञात समाधि की दशा मे निरोध संस्कार अन्य संस्कारों को जलाने के साथ २ स्वयं को भी जला देते है।[3]

पातञ्जल योग की असम्प्रज्ञात समाधि मे साधक अपने क्लेशादि से रहित शुद्ध चैतन्यमय स्वरूप मे प्रतिष्ठित तो हो जाता है। परन्तु उसे अपनी स्वभावभूत परमेश्वरता का अनुभव नही हो पाता। योग सूत्र में तो ऐश्वर्य को विघ्नरूपतया ठहराया गया है।

* ~~ते: व्युत्थाने सिद्धय~~: समाधावुपसर्गा: ,व्युत्थाने सिद्धय:

१- योग वार्तिक ४।२९

२- विरामप्रत्ययाभ्यास पूर्व:संस्कार शेषोऽन्य: योग सूत्र समाधिपाद -१४

३- यथा सुवर्णसंवलितं ध्मायमानं सीसकमात्मानं सुवर्णमपि च निर्दहति एवमेकाग्रताजनितान् संस्कारान् निरोधजा: स्वात्मानं च निर्दहन्ति। भोजवृत्ति १।१८

४- योग सूत्र । 3।3

परन्तु काश्मीर शैव दर्शन में सीमित सिद्धियों को भी उपसर्ग माना गया है। तभी तो आ० उत्पलदेव ने भी शिवस्तो० में स्पष्ट शब्दों में इस प्रकार की अभिलाषा को प्रकट किया है।

यद्यप्यत्र वरप्रदोद्धततमाः पीडाजरामृत्यवः

एते वा क्षणमासतां बहुमतः शब्दादिरेवास्थिरः

तत्रापि स्पृहयामि सन्ततसुखाकाङ्क्षी चिरं स्थास्नवे

भोगास्वाद सुखाय...ध्यानाग्रजीवातवे ॥

हे नाथ प्रणतार्तिनाशनपटो श्रेयोनिधे धूर्जटे।

दुःखैकायतनस्य जन्ममरणाक्रान्तस्य मे साम्प्रतम्

तच्चेष्टस्व यथा मनोऽभिलषितास्वादप्रदा उत्तमाः

जीवन्नेव समश्नुवेऽहममलाः सिद्धिस्त्वदर्थापरः ॥[1]

यहाँ पर <u>जीवन्नेव समश्नुवेऽहममलाः सिद्धिस्त्वदर्थापरः</u> में अमला, सिद्धि, से उनका तात्पर्य है स्वभावभूत परमेश्वरतामयी सिद्धियां जिन्हे पर सिद्धि कहते है। उपसर्ग भूत सिद्धियों को अपरसिद्धि कहा जाता है।

समाधि की ये दशाये अत्यन्त दुष्कर एवं कष्टसाध्य है। इस सम्बन्ध में सर्वपल्ली डा० राधाकृष्णन ने कहा है कि समाधि एक ऐसी अवस्था है, जो बहुत कम व्यक्तियों को प्राप्त होती है और प्रायः कोई भी बड़े देर तक नहीं टिके रह सकता क्योंकि जीवन की मांगों के कारणवश भंग हो जाती है। इसीलिये यह कहा गया है कि अन्तिम मोक्ष तब तक नहीं सम्भव है जब तक कि इस शरीर का त्याग नहीं हो जाता है।[2] ऐसी स्थिति में शैवी निर्व्युत्थान समाधि एवं योगिक समाधि में कुछ भी साम्य होनेका प्रश्न ही नहीं उठता। वह कौन सा मूर्ख साधक होगा जो निर्व्युत्थान समाधि में प्राप्त होने वाले समावेश के परमैश्वर्य सुख का त्याग कर कष्टसाध्य सम्प्रज्ञात समाधि एवं

असम्प्रज्ञात समाधि की साधना मे प्रवृत्त होगा।

इन दोनों साधनाओंमेंसेएक के अनुसार तो समाधि एवं व्युत्थान दोनों ही अवस्थाओंमें अखिल विश्व शिवमय प्रतीत होता है। जब कि दूसरे के अनुसार चित्त को विषयों से हटाया जाताहै। एक शाक्त समावेश में परिपूर्ण रूकता को प्राप्त करनेके बाद डिग नहीं सकता, जबकि दूसरे को समाधि से डिगने का भय हमेशा बनारहता है।

यहां पर यह शंका उठ सकती हैकि श्री मद्भगवद्गीता मे कर्मयोग, सन्यास योग, भक्तियोग इत्यादि विभिन्न प्रकार के योगों की साधना का उल्लेखकिया गया है। औरउसमें योग साधना के लिये संकल्पोंका त्याग एवं चित्त निरोध को आवश्यक बताया गया है। भगवान कृष्ण ने स्पष्ट शब्दों में कहा हैकि संकल्पोंका त्याग न करने वाला योगी नहीहो सकता[१]। जबकिशिवस्तो० में समावेश को प्राप्त करने परचित्त की कोई भी गतिविधि साधनामेंबाधक नहीं होती[१] इसविषय मे समाधान यह हैकि संकल्पों के संन्यास,से चित्तवृत्ति का बलपूर्वक निरोध करना अभिप्रेत नहीं । उसका अभिप्राय केवल विकल्पशून्यता: रूपी शाम्भवी साधना ही है ऐसा अनुभवी योगियों का विचार है। इसीलिये तो भक्तियोग की साधना में श्रीमद्भगवद्गीता एवं शिवस्तो में अप्राप्य साम्य परिलक्षित होता है, जैसाकि पहले स्पष्ट कियाजा चुका है। यह भी अवश्य हैकि गीतोक्त विधि से उत्कृष्ट साधना कर लेने वाला साधक शिवस्तो० की निर्व्युत्थान समाधि जैसी दशा को प्राप्त कर सकता है, ऐसा भगवान श्री कृष्ण के वचनों से स्पष्ट हो ता है।[२] इसतरह से ऐसा प्रतीत होता है। कि भगवद्गीता और

१- यं सन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव ।
न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी, भवति कश्चन ।। गीता ६।२

२- यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।

शिवस्तो० के योग सम्बन्धी विचारों में पर्याप्त मात्रा में समानता है यद्यपि कहने का ढंग भिन्न २ प्रकार का है। इसके विपरीत इन दोनों ग्रन्थ रत्नों में वर्णित योग में और पातन्जल योग में परस्पर काफी अन्तर है।

अब यह तथ्य सुस्पष्ट हो गया कि निर्व्युत्थान समाधि योग साधना की पराकाष्ठा है, जहाँपहुंचकर साधक परिपूर्ण समावेश को प्राप्त करके हमेशा अभेद दृष्टि से समाधि एवं व्युत्थान दोनों ही अवस्थानों में अपने शिवभाव के ही दर्शन करनेके लिये लालायित बना रहता हुआ सतत गति से उसका अनुभव करता रहता है।

कष्टोपायों से तुलना

जीवन की प्रयोगशाला में अनुभूत विविध विध दुःखों से छुटकारा पाने के लिये प्राचीन भारतीय मनीषियों ने यम, नियम, जप, तप यज्ञ एवं योगादि साधनोपायों का अन्वेषण किया और उनका अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रयोग करके परीक्षण किया। परीक्षण की कसौटी पर खरा उतरने पर उन मनीषियों ने लोक कल्याण की भावना से प्रेरित होने के कारण उन २ उपायों को लौकिक प्राणियों के लिये विधान किया। उनका दृढ़ विश्वास था कि जब प्राणी साधना के द्वारा विविध प्रकार के कष्टों को सहन करता हुआ इन्द्रियादि को संयमित कर लेगा तब उसे सांसारिक काम क्रोध लोभ, ईर्ष्या द्वेष, हर्ष विषाद इत्यादि अनेकानेक दोषों से छुटकारा मिल जायेगा और अन्ततः लौकिक दोषों से मुक्त हो जायेगा। उसके क्लेश कर्म विपाक आदि अनादिकाल से चले आते हुए दुःखमय बन्धनों की परम्परा का भी उच्छेद हो जायेगा। इस प्रकार दुःखों की ऐकान्तिक और आत्यन्तिक निवृत्ति हो जायेगी। कष्टसाध्य साधना पद्धति होने के कारण इन उपायों को कष्टोपायों की कोटि में रखा जा सकता है। प्रकरणानुसार यहाँ पर कुछ कष्टोपायों के विवेचन के अनन्तर शिवस्तो० में उपलब्ध सुगम साधना प्रक्रिया से तुलना की जायेगी।

कष्टोपायों के क्रम में प्रथमतः याज्ञवल्क्यस्मृति एवं मनुस्मृति आदि में तप, प्रसंग में निर्दिष्ट यमनियम व्रतादि का विवेचन अपेक्षित है, जिनकी साधना पद्धति अत्यन्त कठिन है। साधना के इन मार्गों में साधक लोक मंगल की भावना से प्रेरित होकर शरीर एवं मन दोनों का विनियोग कर साधन पथ पर

- -

१- या० स्मृ० प्रायश्चित्ताध्याय ३१३

कृच्छ्र होता है, अत: मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्य स्मृति आदि धर्मशास्त्रों में वर्णित तप से तात्पर्य व्रतादि के द्वारा पापों का विनाश ही है, जैसा कि भगवान मनु ने कहा है कि तपसा कल्मषं हन्ति। मनु० १२।१०५ अर्थात तप से पाप नष्ट हो जाते हैं और पापों के विनाश से मनुष्य ब्रह्मज्ञान के योग्य बन जाता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में यम और नियमों को इस प्रकार निरूपित किया गया है[१]।

स्नानं मौनोपवासेज्यास्वाध्यायोपस्थनिग्रहा: ।
नियमा गुरुशुश्रूषा शौचाक्रोधाप्रमादता ।।

अर्थात ब्रह्मचर्य दया क्षमा दान सत्य सरलता अहिंसा चोरी न करना और मधुर वचन बोलना मय स्नान मौन रहना, उपवास देवपूजन, स्वाध्याय, लिंग निग्रह गुरु सेवा पवित्रता, क्रोध और प्रमाद का त्याग ये सभी नियम कहलाते हैं।

कृच्छ्र व्रत:

स्मृतियों में विविध प्रकार कृच्छ्रव्रतोंका प्रतिपादन किया गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार पलाश, उदुम्बर, (गूलर) कमल, बिल्वपत्र में से एक एक को एक २ दिन पानी में उबालकर उसी जल को पीने के बाद पांचवें दिन से कुशा के जल को पीने से कृच्छ्र व्रत होता है। इस प्रकार का कृच्छ्रव्रत पर्णकृच्छ्र कहलाता है[१]। एक २ दिन में केवल एक बार और दूसरे दिन केवल रात्रि को एकबार भोजन करके तीसरे दिन बिना मांगे भोजन करके चौथे दिन उपवास करने से पादकृच्छ्र व्रत होता है[२]। इसी बाद कृच्छ्रव्रत का जिस किसी प्रकार तिगुना करके व्रत करने का प्राजापत्य कृच्छ्र कहलाता है।

१- पर्णोदुम्बर राजीवबिल्वपत्रकुशोदकै: ।
प्रत्येक प्रत्यहं पीत: पर्णकृच्छ्र: उदाहृत: वही ३१६

२- एक भक्तेन नक्तेन तथैवायाचितेन च ।
उपवासेन चैवायं पाद कृच्छ्र: प्रकीर्ति: वही ३१७

और यदि तीन दिन के ह एक बार हाथ में उठा आसकनेवाला भोजन करके बिताये तो उपरोक्त व्रत ही अतिकृच्छ्र व्रत कहलाता है।[1] केवलदूध पीकर इक्कीस दिन बिताने पर कृच्छातिकृच्छ्र व्रत होता है। बारह दिन के उपवास को पराकव्रत कहा जाता है।[2] इसके अतिरिक्त सौम्यकृच्छ्र तथा प्रसहाकृत्यकृच्छ्र व्रत होते है।[3] मनुस्मृति एवं याज्ञवल्क्यस्मृतियों में सान्तपन, चान्द्रायण आदि व्रतों को भी कृच्छ्र व्रत बताया गया है। मनस्मृति में। भगवान् मनु ने कृच्छ्र व्रत को वर्ष में एकवार निश्चित रूप से करने का विधान किया है।

चान्द्रायणाव्रत:-

शुक्लपक्षमें तिथि की वृद्धि के साथ २ मयूर के अण्डे के बराबर एक २ ग्रास बढाते हुए फिर कृष्णपक्ष में एक२ ग्रास घटाते हुए भोजन करने पर चान्द्रायण व्रत होता है। जैसाकि याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा गया है।[4]
तिथि वृद्ध्या चरेत्पिण्डान् शुक्ले शिख्यण्डसंमितान् ।
एकैकं ह्रासयेत्कृष्णे पिण्ड चान्द्रायणं चरन् ।।

सान्तपन व्रत:

एकदिन गाय का मूत्र, गोबर, दूध दही घी औरकुश का जल पीकर दूसरे न उपवास करने पर दो दिनका सान्तपन कृच्छ्र व्रत होता है।[5] सान्तपन के गोमूत्रादि छ: द्रव्यों से पृथक २ छ:दिन बिताकर एक दिन उपवास करने

- -

१- यथाकथंचित्त्रिगुणा: प्राजापत्योऽयमुच्यते ।
अयमेवातिकृच्छ्र: स्यात्पाणिपूरान्नभोजन: ।। ३१९ याज्ञ॰स्मृति॰प्रायश्चित्ताध्याय

२- कृच्छ्रातिकृच्छ्र: पयसा दिवसानेकविंशतिम् ।
द्वादशोपवासेन पराक: परिकीर्तित: ।। ३२०

३

पर एक सप्ताह का महासान्तपन कृच्छ्र व्रत होता है।

शिलोञ्छादि चर्या:

इसी प्रकार भगवान मनु ने उञ्छ और शिल को ऋत बिना मांगे जो मिल जाय उसे अमृत और मांगने पर जो मिले उसे मृत और खेती से मिलने वाले उपान्त को प्रमृत बताया है।[1]

किसान द्वारा बोये हुए अन्न को काट कर ले जाने के बाद उसमें गिरे हुए एक २ दाने को दो अंगुलियों से चुनने को उञ्छ[2] तथा उक्त खेत से एक २ बाल को चुनने को शिल कहते है।[3] इस प्रकार सत्य के समान फलप्रद ये दोनों वृत्तियाँ ऋत कही गयी।

शिलोञ्छादि चर्या ब्राह्मण का प्रयोग ब्राह्मण को तब करना चाहिए। जब वह अध्यापन यज्ञ याजनादि के माध्यम से अपनी जीविका का निर्वाह करने में असमर्थ हो।[4] क्योंकि ब्राह्मण की जीविका का श्रेष्ठ उपाय तो अध्ययन अध्यापनादि ही है। जैसा कि भगवान मनु ने कहा है।[5]

अध्ययनं अध्यापनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ।।

- -

१- ऋतमुञ्छशिलं ज्ञेयममृतं स्यादयाचितम् ।
मृतं तु याचितं भैक्षं प्रमृतं कर्षणं स्मृतम् । मनु० ४।५

२- यत्र यत्रौषधयो विद्यन्ते तत्र तत्राङ्गुलिभ्यामेकैकं कणं समुच्चित्य, इति बौधायन दर्शनात् एकैकधान्यादिगुडकोच्चयनमुञ्छः मञ्जर्यात्मकानेकधान्योच्चयनं शिलः इति । म०मु०)

३- तदुक्तं हेमचन्द्रेण उञ्छो धान्यकणादानं कणिशाद्यर्जनं शिलम्
शिलोञ्छमप्याददीत विप्रोऽजीवन्यतस्ततः । अभि० चि० ३।५२६

४- प्रतिग्रहाद्याजनः श्रेयास्ततोऽप्युञ्छः प्रशस्यते

५- मनु० १०।७५

वेदान्तियों का संन्यास और बौद्धों का भिक्षु मार्ग

स्मृतियों में प्रतिपादित यम नियम एवं व्रतादि से कष्टकर वेदान्तियों का सन्यासमार्ग एवं बौद्धों का भिक्षु मार्ग है। जिसमें साधक को विविध विध कष्टों को सहन करना पड़ता है।

सन्यास मार्ग:- सन्यास, आश्रम व्यवस्था की अन्तिम अवस्था है। स्मृतियों के यतिधर्म, प्रकरण में सन्यासियों के धर्मों एवं कार्यों का निरूपण किया किया गया है। याज्ञवल्क्यस्मृति के अनुसार प्रिय और अप्रिय सभी प्राणियों के प्रति उदासीन होकर शान्त बाह्य करण एवं अन्तःकरण के काम से रहित होकर तीन दण्ड और कमण्डलु धारण करके अकेले अलग रहकर, अहंकारादि दोषों एवं लौकिक कर्मों का त्याग करके सन्यासी को केवल भिक्षा के लिये गांव में प्रवेश करना चाहिए।[1] मनुस्मृति में कहा गया है कि मनुष्य को अपनी अवस्था के तीसरे भाग को तपश्चर्यादि के द्वारा वन में बिताकर आयु के चौथे भाग में सब विषयों का त्याग कर सन्यास ग्रहण करना चाहिए।[2] मनुस्मृति में यह भी कहा गया है कि सन्यास ग्रहण करने से पूर्व देवऋण ऋषिऋण और पितृऋण से मुक्त हो जाना चाहिए क्योंकि बिना ऋणों से मुक्त हुए संन्यास के द्वारा मोक्ष की साधना निरर्थक होती है।[3]

१- सर्वभूतहितः शान्तस्त्रिदण्डी सकमण्डलुः ।
एकारामः परिव्रज्यभिक्षार्थीग्राममाश्रयेत ।। या० स्मृ० ३।५८

२- वनेषु च विहृत्यैवं तृतीयं भागमायुषः ।।
चतुर्थमायुषो भागं त्यक्त्वा संगान्परिव्रजेत।। मनुस्मृति ६।३३

३- ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत।
अनपाकृत्य मोक्षं तु सेवमानो व्रजत्यधः ।। वही ६।३५

४- सम्मा कम्मन्ति- (सम्यक् कर्मान्त) अर्थात शुद्ध आचरण

(५) सम्मा आजीव(सम्यक् आजीविका) शुद्ध उपाय से आजीविका कमाना

(६) सम्मा वायाम (सम्यक् व्यायाम (अर्थात शुद्ध प्रयत्न

(७) सम्मा सति(सम्यक् स्मृति) शुद्ध संकल्प तथा शुद्ध विचार

(८) सम्मा समाधि, सम्यक् समाधि) अर्थात शुद्ध चित्तवृत्ति

ख- पांच उपायों में:- (१) सदाचार (२) अकुकर्म निवारण(३) अनाचार निवारण (४) असदाचार कारण निवारण और (५)संयम आते हैं।

<u>ग- चार दृष्टियों में (१)</u> निर्बलों महानुभावों के साथ मैत्री का (२) सुखी जीवों के प्रति मुदिता का (३) दुःखी प्राणियों के प्रति करुणा का और (४) निकृष्टाचरण मानवों के प्रति उपेक्षा की दृष्टि को अपनाये रखने से निम्न आते हैं।

इसके अतिरिक्त त्रिपिटक में ऐसा भी कहा गया है कि

(१) शुद्ध शील से जीवन उन्नत बन जाता है।

(२) समाधि के अभ्यास से वासना क्षय होता है। और साधक निर्वाण के समीप पहुंच जाता है।

(३) शुद्ध प्रज्ञा से अर्थात यथार्थनिश्चय ज्ञान से बुद्ध की अवस्था की प्राप्ति होती है।

उपर्युक्त सभी बातें कहने सुनने के लिये बिल्कुल अच्छी हैं, परन्तु मानव की मानवोचित दुर्बलताओं को और वर्तमान युग की भौतिक दृष्टि प्रधान परिस्थितियों को दृष्टि में रखते हुए इनका पालन निभाना मानव के लिये प्रायः सम्भव नहीं। दुराग्रहवश यह भौतिक भोगवाद का यह कठोर अनुशासन प्रधान मार्ग निरुद्देश्य भी है। साधारण जनता इसे अपना नहीं सकती। फिर यह मार्ग अधिकतर संन्यास का है और अत्यन्त कठिन

अष्टांग योग साधना :

सदाचार एवं विनय मार्ग की अपेक्षा अधिक कष्टसाध्य पातञ्जल योग के यम, नियम प्रत्याहार, प्राणायाम आदि उपाय हैं, जिनकी सिद्धि सामान्य साधक के लिये प्राय: असम्भव सा होती है। अत: कष्टोपायों के प्रसंग में इनका भी उल्लेख अपेक्षित है। पातंजल योग के अतिरिक्त श्रुतियों में आत्मतत्व की प्राप्ति के साधन के रूप में योग का विस्तृत प्रतिपादन मिलता है। श्रुति में स्पष्ट रूप से योग को आत्मसाक्षात्कार का साधन माना गया है। श्वेताश्वर उपनिषद में कहा गया है कि जगत के कारण देव को जानकर प्राणी बन्धन से मुक्त हो जाता है।[1] कठोपनिषद में अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वाधीरो हर्षशोकौ जहाति अर्थात उस देवं को अध्यात्म योग की प्राप्ति द्वारा जानकर विवेकी पुरुष हर्ष एवं शोक को त्याग देता है। मैत्रायणी उपनिषद में इस योग के प्राणायाम प्रत्याहार, ध्यान, धारणा तर्क एवं समाधि ये षडङ्ग बताये गये है।[2]

> प्राणायाम: प्रत्याहारो ध्यानं धारणातर्क:
>
> समाधि षडङ्ग इत्युच्यते योग:

किन्तु पातंजल योग सूत्र में योग के आठ अंगों अर्थात यम, नियम, आसन, प्राणायाम प्रत्याहार, धारणा ध्यान और समाधि का विधान किया गया है।[3] जिनका सूक्ष्म विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

यम:- अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह ये पांच प्रकार

१- तत्कारणं सांख्ययोगाधिगम्यं ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशै: श्वेता० ६।१३

२- मैत्रायणी ६।१८

३- यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टा। वहानि साधन पाद २९

के यम होते हैं।[1] जाति, देश काल और श्रेष्टाचार[2] परम्परा से सीमित न होते हुए ये यम सार्वभौम महाव्रत कहे जाते है।

नियम:-

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, और ईश्वर प्रणिधान नियम कहे जाते है। याज्ञ स्मृति में स्नान, मौन रहना, उपवास देवपूजन स्वाध्याय, इन्द्रिय निग्रह गुरु सेवा, पवित्रता, क्रोध और प्रमाद का त्याग ये दसों नियम कहे गये है[3]।

आसन:-

जो शारीरिक स्थिति स्थायी और सुखद हो वह आसन है।[4] इन आसनों की कोटि में पद्मासन वीरासन, भद्रासन स्वस्तिकासन, दण्डासन सोपाश्रय, पर्यंकासन क्रौञ्चनिषदन, हस्तिनिषदन, उष्ट्रनिषदन, और समसंस्थान इत्यादि आते है। आसन सिद्ध साधक को शीतोष्णादि द्वन्द्व बाधा नहीं पहुंचते।

प्राणायाम:-

योग सूत्र में रेचक, पूरक और कुम्भक तीन प्रकार के प्राणायामों का उल्लेख है।[5] जिस प्राणायाम में सांस छोड़ना तो बना रहे, केवल सांस लेने मात्र का निरोध हो वह बाह्य प्राणायाम रेचक, कहलाता है।[6] श्वास प्रक्रिया के जिस गत्यभाव में श्वास तो बना रहता लेकिन्तु श्वांस छोड़ने का क्रम निरुद्ध कर दिया जाता है, वह पूरक, प्राणायाम कहलाता है।

१- अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा: यमा: । वही ३०

२- जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना: सार्वभौमा महाव्रतम्। साधन पाद ३१

३- या० स्मृ० प्रायश्चित्ताध्याय ३१३

४- स्थिरसुखमासनम् । यो० सू० साधनपाद ४६

५- बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसंख्याभि: परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्म: वही ५

६- योग वशिष्ठ पृ०२७०

७- वही

जिसमें श्वास और प्रश्वास दोनों का एक साथ प्रवाह भंग होजाता है, वह कुम्भकप्राणायाम कहलाता है।[1] प्राणायामों के अभ्यास से ही धारणा करने में मन को सामर्थ्य बढ़ती है।[2]

प्रत्याहार:- अपने अपने इन्द्रियों के विषयों के साथ सन्निकर्ष न होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप का अनुकरण सा कर लेना प्रत्याहार है।[3] वेदान्तसार में भी प्रत्याहार।

इन्द्रियाणाम् स्वस्वविषयेभ्यः प्रत्याहरणं प्रत्याहारः[4] कहकर योग के मत का ही समर्थन किया गया है।

धारणा:- चित्त को किसी एक बाहरी या भीतरी प्रदेश में ठहरा रखना ही धारणा है।[5] वेदान्तसार के अनुसार आन्तरिन्द्रिय अर्थात् मन को अद्वितीय वस्तु में एकाग्र करना धारणा है।[6]

ध्यान:- धारणा वाले विषय में ध्येय रूप आलम्बन वाले तथा अन्य ज्ञानों से अस्पृष्ट ज्ञान की अविच्छिन्न तथा अभिन्न धारा ही ध्यान है।[7] तात्पर्य यह है कि चित्त में उक्त ध्येय विषय के प्रति सततगति से चलते रहने वाले विकल्प ज्ञान की अविच्छिन्न परम्परा को ध्यान कहते है।

वेदान्तसार में अद्वितीय वस्तु ब्रह्म में चित्त वृत्ति के प्रवाह का नाम ध्यान है।[8]

१- ~~वही~~ योगवाशिष्ठ पृ० 260

२ धारणासु च योग्यता मनसः योग सू० साधनपाद ५३

३- स्वविषयासंप्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः। योगसूत्र सा० ५४

४- वेदान्तसार। 208

५- देशबन्धश्चित्तस्य धारणा यो० सू० विभूतिपाद -१

६- अद्वितीय वस्तुन्यान्तरिन्द्रिय धारणं धारणा। वेदान्तसार

७- योग सू० विभूतिपाद सूत्र २ का भाष्य

८- तत्राद्वितीयवस्तुनि विच्छिद्य विच्छिद्यान्तरिन्द्रियवृत्तिप्रवाहो ध्यानम्।

समाधि:-

ध्यान ही जब ध्येय के स्वभाव का आवेश होने के कारण ध्येय के आकार से भासित होने लगता है। और अपने ज्ञानात्मक रूप से रहित जैसा हो जाता है उस समय उस अवस्था को समाधि कहा जाता है

योग दर्शन के अनुसार साधक उक्त अष्टाङ्ग साधना का अभ्यास करने के अनन्तर ही ब्रह्मविद्या का अधिकारी बन सकता है। किन्तु अष्टाङ्गों की यह साधना सरल नहीं है क्योंकि इसमें नानाविध विघ्नों एवं कष्टों की सम्भावना विशेषतया बनी रहती है। अत: सामान्य साधक की पहले तो ऐसी साधना में प्रवृत्ति ही नहीं होती और यदि किसी प्रकार हुई भी तो वह विघ्नों के आ पड़नेपर समाप्त हो जाती है।

हठयोग साधना

पातंजल योग सूत्र की अष्टाङ्ग प्रक्रिया से अधिक कष्टकारक गोरखनाथ गोरखनाथ सम्प्रदाय की हठयोग साधना पद्धति है। उसके षट्कर्म मुद्रा बन्ध इत्यादि अत्यधिक कष्ट कारक है।

हठयोग प्राणानिरोध साधना है। इसमें कुण्डलिनी शक्ति को जागृत करना हठयोगी का मुख्य लक्ष्य होता है। अत: इस प्रक्रिया में षट्कर्म एवं मुद्रा

१- पा० सू० विभूतिपाद सूत्र ३ का भाष्य

बन्ध, आदि का विशेष महत्व है अतः इन्होंकी साधना प्रक्रिया पर विचार किया जायेगा।

षटकर्म:-

हठ योग प्रदीपिका में षाट् कर्मो को इस क्रम मे निरूपित किया गया है।[1]

> धौतिर्बस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा ।
> कपालभातिश्चैतानि षट कर्माणि प्रचक्षते ।।

अर्थात धौति, बस्ति, नेति, त्राटक , नौली कपाल भाति ये छः प्रकार के कर्म है।

धौती:-

चार अंगुल चौड़े पन्द्रह हाथ लम्बे वस्त्र को लेकर उसे उष्ण जल से भिगोकर गुरु द्वारा उपदिष्ट विधि से धीरे २ निगलने के बाद उस वस्त्र के छोर को अपनी दांतों में अच्छी तरह दबाकर नौली कर्म के द्वारा उस वस्त्र को उदर मे कुछ देर तक टिकाने और धीरे २ पुनः बाहर खींचे कर लाने की क्रिया को धौती कर्म कहते है।[2] इससे पेट के सभी रोग नष्ट हो जाते है और पाचन शक्ति मे वृद्धि होतीहै। साथ ही गले से पेट तक के अंगो की भीतरी सफाई हो जाती है।

नेति :-

चिकने सिलायम के सूत्र को नासिका के नाल में प्रविष्ट करके मुख से निकलने की क्रिया को नेति कर्म कहते है।

- -

१- हठयोग प्रदीपिका २२

२- चतुरंगुलविस्तारं हस्तपंचदशायतम् ।
गुरूपदिष्ट मार्गेण सिक्तं वस्त्रं शनैर्ग्रसेत ।। २४

बस्ति
-----:-

प्राणायाम के बल से गुदा के मार्ग से शुद्ध जल को अन्तड़ियों में चढ़ा कर बाद में उसे विरेचन करने की क्रिया को बस्ति कहतेहै। इससे पेट के निचले भाग की शुद्धि होताह, अन्तड़ियों के सभी दोष दूर हो जाते है। और शरीर में बल की वृद्धि होताहै।

त्राटक
------ एकाग्रचित होकर निश्चल दृष्टि से सूक्ष्म पदार्थ को तब तक लगातार देखते रहने का अभ्यास कर जब तक कि अश्रुपात न हो।

नौलि:
-------:- कंधे को झुकाकर अत्यन्त वेग पूर्वक जलभ्रम के समान अपने उदर के दक्षिण वाम भागको घुमाने की क्रिया को नौलि कर्म कहते है।

कपालभाति:-
---------- छोहकारी भस्त्रा के समान संभ्रम से अर्थात एकाबार अत्यन्त शीघ्रता से रेचक, पूरक प्राण याामों को करना कपालभाति कर्म कहलाता है।

मुद्रा बन्ध निरूपण

हठयोग के अनुसार महामुद्रा, महाबंध, महावेध, खेचरी उड्डयान, मूलबन्ध जालन्धरबन्ध विपरीतकारिणी वज्रोली, शक्ति चालन, ये दस मुद्राये होती है

- -

१- निरीक्षेन्निश्चलदृशा सूक्ष्म लक्ष्यं समाहित:। हठयोग प्रदीपिका
अश्रुसंपात पर्यन्तमाचार्यैस्त्राटकं स्मृतम् वही।। २।३१

२- अमंदावर्तवेगेन तुंदं सव्यापसव्यत:।
नतांसो भ्रामयेदेषानौलि: सिद्धै: प्रचक्ष्यते।। वही २।३३

३- भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरौ ससंभ्रमौ।
कपालभाति विख्याता कफदोष विशोषणि।। वही २।३५

४- महामुद्रामहाबन्धो महावेधश्चखेचरी, उड्डयान मूलबन्धश्चबन्धोजालन्धराभिध:
करणीविपरीताख्या वज्रोली शक्तिचालन नमु।

महामुद्रा:-

बाये पैर के नीचे से अर्थात ऐड़ी से योनिस्थान को अर्थात् गुदा और लिंग के मध्यभाग को अच्छी प्रकार दबाकर और दाहिने पैर को फैलाकर अर्थात ऐड को भूमि से मिलाकर और उसकी अंगुलियों को ऊपर करके दाहिने हाथ की तर्जनी से धीरे २ पकड़ने की क्रियाको महामुद्रा कहते है।[1]

महाबन्ध:- बाये पैर की एड़ीको योनिस्थान मे अर्थात गुदा और लिंग के मध्यभाग में लगाकर बायी जंघा के ऊपर दाहिने पैर को रखकर अभ्यास करने की क्रिया को महाबन्ध: कहते है।[2]

महावेध:-

महाबंध मुद्रा मे स्थित योगी एकाग्रबुद्धि से पूरक प्राणायाम करके कंठमुद्रा से अधो ऊर्ध्व अधोगति रूप प्राणादि वायुओ को रोककर अर्थात् कुम्भक प्राणायाम करके हाथों के तलुओ को जमीन पर लगाकर अपने स्फिचो (चूतड़ों) को भूमि पर लगाकर योनि स्थान मे लगी हुई ऐड वाले बाये पैर सहित स्फिचो को भूमि से ऊपर थोड़ा उठाकर धीरे२अच्छी प्रकार ताड़ना करना चाहिए। इस प्रकार करने से इडा और पिंगला रूप दोनों नाड़ियों का उल्लंघन करके सुषुम्ना मे प्राणवायु की गति हो जाती है।[3]

- -

१- पादमूलेन वामेन योनिं संपीड्य दक्षिणाम् ।
प्रसारितं पदं कृत्वा कराभ्यां धारयेदृढम् ।। वही३ ।१०

२- पार्ष्णिं वामस्य पादस्य योनिस्थाने नियोजयेत् ।
वामोरूपरि संस्थाप्य दक्षिणं चरणं तथा ।। हठ योग प्र० ३।१९

३- महाबंध स्थितो योगी कृत्वा पूरकमेकधी: ।
वायूनां गतिमावृत्य निभृतं कण्ठमुद्रया ।। वही ३।२६

४-

खेचरी :-

कपाले के छिद्रके मध्य मेंजिह्वा को उलटी करके तथा भ्रुवों के मध्य में दृष्टि को प्रविष्ट करने से खेचरी मुद्रा होता होतीहै।

उड्डीयान बन्ध:-

सुषुम्ना में जिस मुद्रा के द्वारा प्राण उड जाता है। उसे उड्डीयान बन्ध कहते हैं। इसमें पेट में नाभि के ऊपर नीचे पश्चिम भाग को इस प्रकार खींचे कि ये दोनों भाग पृष्ठ में लग जायें ।

मूलबन्ध:-

पार्ष्णि के भाग अर्थात् गुल्फों के अधः प्रदेश से योनिस्थान अर्थात गुदाका संकोच करके अपान वायु को ऊपर की ओर खींचने की क्रिया को मूलबन्ध कहते हैं।

वज्रोलि:-

पुरुष अथवा स्त्री केद्वारा मैथुन से धीरे २ यत्न पूर्वक ऊपर को आकुंचन का अभ्यास करनेकी क्रिया को वज्रोलि कहते हैं। अर्थात पुरुष या स्त्री अपने उपस्थ इन्द्रिय के आकुंचन से बिन्दु के ऊपर खींचने का अभ्यास करे तो वज्रोली मुद्रा कीसिद्धि होती है।

१- कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा
भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी।
२- बद्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्डीयते यतः ।
तस्मादुड्डीयनाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः ।। ३।५५
३- उदरे पश्चिमं तानं नाभेरूर्ध्वं च कारयेत।
उड्डीयानो ह्यसौ बंधो मृत्युमातंग केसरी ३।५७

शक्तिचालन:-

हठयोगप्र० में शक्ति चालन को कुटिलांगी कुण्डलिनी, भुजंगी शक्ति, ईश्वरी कुण्डली अरुंधती इनसात शब्दों का पर्याय बताया गया है।[1] इस मुद्रा के द्वारा कपाट से मानो पुर्व योगी भेद करता हुआ इस शक्तिचालन मुद्रा की सिद्धि के द्वारा मोक्षप्राप्त कर लेता है।[2]

पूर्वोक्त कष्टोपायों के विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचा जासकता है कि साधनाके उन मार्गों की प्रक्रिया अत्यन्त ही जटिल तथा भयानक है। विरले साधक ही शिलोच्चादि क्यों धारणा ध्यान, समाधि, एवं मुद्रा बन्धादि का अभ्यास करने में प्रवृत्त हो सके है। क्योंकि इन साधनोंपायों में गन्तव्य (मोक्ष) तक पहुंचने की प्रक्रिया एक लम्बे समय के अन्तराल में पूरी होती हैजिससे कभी२ साधना के मार्ग पर प्रवृत्त साधक के निराश होकर उस मार्ग से विचलित होना पड़ताहै। ऐसे साधनों की दुर्गमता के सम्बन्ध में गीता में भगवान श्री कृष्ण ने भी कहा है ।

युक्ताहार विहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा भगवद्गीता ६।१७

फिर वर्तमान परिस्थितियों के लिये तो ऐसे साधन मार्ग प्रायः अनुपयोगी ही है क्योंकि अब न तो प्राचीन परम्परा में वैसे साधक सिद्ध योगी ही रह गये है और न ही उस विद्या की जिज्ञासा रखने वाले साधक ही।

- -

पुरुषोप्यथवा नारी भुक्तोसी सिद्धिमानुयात् ।।

१- कुटिलांगी कुण्डलिनी भुजंगी शक्तिरीश्वरी।
कुण्डल्यरुंधती चैते शब्दाः पर्यायवाचकाः । ह० योग प्र० ३।१०४

२- उद्घाटयेत्कपाटं च यथा कुंचिकया हठात्।
कुण्डलिन्या तथा योगी मोक्षद्वारं विभेदयेत्। वही ३।१०५

जब शास्त्र विहित मार्ग के द्वारा साधक सम्पूर्ण सांसारिक वस्तुओं के वास्तविक स्वरूप को जान लेता है, तो लौकिक व्यवहार में भी उसे चिदानन्दात्मक सुख का अनुभूति होती रहती है। और वह हमेशा परमेश्वर के स्वरूप का ही ध्यान करता रहता है।[1] ऐसे भक्तों के लिये यह जगत् लौकिक दृष्टि से दुःखात्मक होते हुए भी सुखात्मक ही होता है।[2] ऐसे साधकों के कीर्तन चिन्तन, ध्यान नामस्मरण इत्यादि प्रत्येक कर्मों का एक मात्र लक्ष्य परमेश्वर ही होता है।[3] इसी लिये उनका सम्पूर्ण सांसारिक व्यवहार प्रशंसनीय होता है। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भी ऐसे साधक शनैः शनैः परिपूर्ण एकात्मकता को प्राप्त कर लेते है। जबकि सन्यास, तप आदि साधनोपायों में गृहस्थाश्रम एवं कर्मो का त्याग करना आवश्यक बताया गया है। शैवी साधना की इस प्रक्रिया में भक्ति की प्रधानता रहती है। इसलिये इस मार्ग के साधक के जीवन का प्रत्येक क्षण परमानन्दात्मक ही रहता है।[4] इस मार्ग में उसे साधना के लिये शरीर को किसी भी प्रकार के कष्ट देने की आवश्यकता नहीं होती जब कि चान्द्रायण आदि तपस्याओं में शरीर को नानाविध कष्टों से पीड़ित करना पड़ता है। भक्ति प्रधान इस साधना को आचार्य उत्पलदेव ने शिवमार्ग की संज्ञा दी है। इसी को राजयोग आदि अन्य नामों से भी जाना जाता है। उन्होंने स्पष्ट कहा है।

- -

१-स्वरसोदित युष्मदङ्घ्रि सुधा-
        रसपूर्णमानसपान सततवितः।
  सकलार्थ वर्गमयं मनेयम्।
    सुखसंस्पर्शनमात्र लोकयात्रः ।। शिवस्तो० १८।६

२- अविभन्नेव जानन्त्समस्त्रीकृतलक्षाः प्रति।
   हर्षप्रकाश ननपालमन्यदेव कारित्स्यतम् ।। वही १६।२३

३- कीर्त्यशिवचिन्तापरं नृ न्यः पुण्यमेव त्वैमेव तत् ।
   मक्र बिलसतां रक्षाध्या लोकयात्रा भवन्त्यपी।। वही १६।१८

४-सुखदुःखात्त्वां प्रति ये मन्तं ।
  प्रत्यर्थपादपलोक्यन्ति ।
 तेषामहोकिदुपस्थित स्याम्
  किं धार्म्यं वा पार्थिवं भवेत ।।

कि इस शिवमार्ग में न प्राणायाम आदि योगाभ्यास की आवश्यकता न तपस्या की और न ही किसी कृच्छ्रप्रक्रिया की। यह तो साधना की श्रेष्ठ प्रक्रिया है।[1] शिवमार्ग का अभ्यासी साधक सम्पूर्ण कार्यों को करता हुआ भी हमेशा यही सोचता है कि वस्तुत: परमेश्वर ही मेरे द्वारा सम्पादित होने वाले इन सभी कार्यों को करता है क्योंकि उसकी इच्छा के बिना मैं कोई भी कार्य नहीं कर सकता।[2] साधना के इस मार्ग में योगादि मार्गों की तरह मन को बलात्कार से संयमित करने की आवश्यकता न ही, न ही उसे सांसारिक विषयों से विमुख करने की ही आवश्यकता है। इसमें तो केवल उतने अभ्यास की आवश्यकता है, जितने से यह बोध हो जाय कि यह जड़ जंगमात्मक जगत परमेश्वरात्मक ही है।[3] शिवमार्ग के अप्रतिम प्रभाव के कारण भाव विभोर होकर आचार्य उत्पलदेव कह उठते हैं। कि स्वामी आपके साथ एकात्मकता के इच्छुक शिवमार्गाभ्यासी साधक अत्यन्त उत्कृष्ट होते हैं। जो संसार में रहते हुए भी शीघ्र ही आपसे अभिन्नता स्थापित कर लेते हैं।[4]

१- न योगोन तपो नार्चाक्रम: कोऽपि प्रणीयते ।
अमाये शिवमार्गे अस्मिन् भक्तिरेका प्रशस्यते ।।

२- न सा मतिरुदेति या न भवति त्वदिच्छामयी।
सदा शुभमयेतरद्भगवतैवमालोचिते ।। शिवस्तो०१।१८

३- ज्ञातोऽस्मि भवदात्मको भुवि यथा तथावस्थित ।
स्थितोऽनिशमबाधितस्त्वदनघाङ्घ्रिपूजोत्सव: ।। वही १८।२२

४- क्वापि स्वरूपेण यत्र तत्र।
प्रसरत्यप्यसमस्य गोचरेषु ।
प्रभुतोऽप्यविलोक्य एवं पुष्प
स्पर्शिकवीश्वर: सदा भवेयम् ।। शिवस्तो०१२।२४

पंचम-अध्याय

अध्याय ५

शिवस्तोत्रावलि में भक्ति का स्थान

क:- परभक्ति का स्वरूप

प्राय: प्रत्येक भारतीय दर्शन मोक्ष को ही अपना अन्तिम लक्ष्य मानते है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन जीव एवं परमेश्वर की परिपूर्ण एकात्मकता को ही सर्वोत्कृष्ट मोक्ष एवं जीवन का परमलक्ष्य मानता है। जिसकी प्राप्ति परमेश्वर की अनुग्रह लीला के विकास पर ही आश्रित है। काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार परमेश्वर की अनुग्रह लीला का प्रारम्भ मूलत: शिव के स्वातन्त्र्य पर ही निर्भर होता है, किन्तु शिवस्तो० में आ० उत्पलदेव ने कहा है कि यद्यपि मूलत: अनुग्रह लीला शिव के स्वातन्त्र्य पर ही आश्रित है तथापि उसकी लौकिक विकास क्रम में भक्ति और अनुग्रह परस्पर आश्रित है।[1] परमेश्वर की अनुग्रह लीला के प्रभाव से ही जीव के भीतर भक्ति का अंकुर उत्पन्न हो जाता है। आगे उस लीला की सुनिश्चित क्रीडाओं के अनुसार उस भक्ति की गति भिन्न भिन्न साधकों में भिन्न भिन्न प्रकार से चलती है इसी से यह लीला अतीव चमत्कार मयी बनती है। इसी के आधार पर शक्तिपात लीला के २६ प्रकार बनते है। पारमार्थिक दृष्टि से विचार करने पर वास्तविकता यही है।

अनुग्रह लीला के बढ़ पड़ने पर व्यवहार दृष्टि से सोचने पर यह बात सिद्ध होती है कि भक्ति से ईश्वरानुग्रह बढ़ता है और ईश्वरानुग्रह से भक्ति बढ़ती है।[2] एक दूसरे को बढ़ाते हुए ये दोनों भाव

- -

१- त्वमनल्पया धीयसे नाथ । शिवस्तो० १६।२१

२- भव प्रसादकण ईश्वरस्थितौ ।
या च भक्तिरिव नामुकाशनी ।
तौ परस्परसमन्वितौ सदा
तादृशे च पुष्टि हि मेष्यत: ।। वही ८।१

अन्ततोगत्वा उस परिपूर्ण रूप को प्राप्त करते है जहां ।[1]

ज्ञानस्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा ।

त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि पूर्णा मे स्यात्तथार्पिता ।।

की उत्कृष्ट दशा प्राप्त होती है। भक्ति की प्रशंसा करते हुए आ० उत्पलदेव ने शिवस्तो० में एक स्थल पर कहा है कि प्रेमपूर्वक निष्कपट भाव से भक्ति करने वाला साधक शीघ्र ही परमेश्वर के अनुग्रह का पात्र होता है। और इस प्रकार पराभक्ति की साधना के द्वारा परमेश्वर के साथ परिपूर्ण ऐक्य स्थापित कर लेता है। भक्ति के इसी चमत्कार के कारण उन्होंने कहा है कि 'शिवोभूत्वा शिवं यजेत्। इस विधि के विरुद्ध भक्तो भूत्वेति शिवं यजेत्। ऐसा कहना चाहिए। अर्थात शास्त्रादि विधि विहित मार्गों की अपेक्षा साधक समावेश क्रम से पराभक्ति के स्तर पर पहुंच जाने पर साधक शिवस्वरूप हो ही जाता है।[2]

शिवस्तो० में पराभक्ति का स्वरूप, के विवेचन से पूर्व भक्ति के सामान्य लक्षणों एवं उसके भेदों पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि भक्ति-सुरसरि आ० उत्पलदेव से पूर्व भी अनेकानेक आचार्य ने भक्ति सुरसरिता में प्रस्नात होकर इस सम्बन्ध में अपनी धारणाओं पर अपनी २ लेखनी को चलाया है। इन आचार्यों में नारद, व्यास, गर्ग शंकराचार्य, मधुसूदन सरस्वती, जीवगोस्वामी, वल्लभाचार्य एवं सूरदास इत्यादि का नाम विशेष उल्लेखनीय है।

१- शिवस्तो०

२- शिवो भूत्वा यजेतेति भक्तो भूत्वेति कथ्यते ।

त्वमेव हि वपुः सारं भक्तैरद्वयशोधितम् ।। शिवस्तो० १।१४

३- सा परानुरक्तिरीश्वरे । सा मुख्येतरापेक्षत्वात् । शाण्डिल्य भक्तिसूत्र

१-२८-।-।-।

भक्ति की कुछ उल्लेखनीय परिभाषाएं

शाण्डिल्य के अनुसार ईश्वर के प्रति [illegible] परानुराग ही भक्ति है, जो परा और अपरा भेद से दो प्रकार की होती है।[1] यहांपर भक्ति से तात्पर्य गौणी भक्ति से तथा अपराभक्ति से तात्पर्य उत्कृष्ट कोटि की भक्ति से है। पराभक्ति कीर्तन, ध्यान, जप इत्यादि के द्वारा प्राप्त होतीहै, यही अपरा भक्ति की साधिका होती है।[2]

पाराशर्य के अनुसार परमेश्वर के प्रति परा प्रेम एवं पूजा इत्यादि हीभक्ति है।[3]

गर्ग के अनुसार, भगवद्गुण कीर्तन करना ही भक्ति है, नारद के अनुसार-अपनी समस्त क्रियाओंको परमेश्वर को अर्पित करके विशुद्ध प्रेम से परमेश्वर की आराधना ही भक्ति है।[4]

भागवत के अनुसार भगवद्गुणाकीर्तन करना, सुनना तथा अविचल भाव से मन को परमात्मा में लगाना ही भक्तियोग्य है[5]

मधुसूदन सरस्वती के अनुसार निरन्तर स्थिर भाव से भगवद्गुण कीर्तन के रस में प्रवाहित होते रहना ही सच्ची भक्ति है।[6]

इस प्रकार भक्ति के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता हैकि भक्ति विभिन्न प्रकार के भावों के द्वारा परमेश्वर की आराधनाका परिणाम

१- सा परानुरक्तिरीश्वरे सा मुख्येतरापेक्षत्वात् शाण्डिल्य भक्तिसूत्र १-२।-।

२-भक्त्या भजनोपसंहाराद् गौण्या परायै तद्धेतुत्वात्। शाण्डिल्य भक्तिसूत्र ।। -।

३-पूजादिष्वनुराग इति पाराशर्यः नारदभक्ति सूत्र-१६

४- कथादिष्विति गर्गः वही सूत्र १७

४- वही सूत्र २ तथा १६

५- मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।

मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ।। भागवत ३।२६

६- द्रुतस्य भगवद्धर्माद्धारावाहिकतां गता।

[illegible] सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते।। भक्तिरसायन १।५

है। अतः उत्कृष्ट कोटि की भक्ति के साधक विभिन्न मानसिक भावों पर संक्षेप में विचार कर लेना अनुचित न होगा। अतः संक्षेप में कुछ आचार्यों के भक्ति विषयक विचार दिये जा रहे हैं :-

मधुसूदन सरस्वती

मधुसूदन सरस्वती ने अपने भक्ति रसायन में भक्ति के ग्यारह सोपानों का निरूपण किया है। उनके अनुसार उत्कृष्ट कोटि की भक्ति को प्राप्त करने के इच्छुक साधक के लिये सर्व प्रथम सत्संग अपेक्षित है, सत्संग से उसे भागवत-अनुग्रह की प्राप्ति होगी, जिससे उस साधक-भक्त को उन महापुरुषों के धर्म मार्ग में श्रद्धा होगी और श्रद्धा होने से परमेश्वर के गुण, स्वाभाव, इत्यादि, के श्रवण, कीर्तन में प्रवृत्ति होगी, इस प्रकार साधक के मन में भक्ति के प्रति रति, का अंकुर अंकुरित होगा। यही रति, भक्ति में स्थायित्व लाती है। भक्ति के प्रति राग उत्पन्न होने पर भक्त में ईश्वर के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा उत्पन्न होगी, जिसके कारणवश गुरुमुख, शास्त्र अध्ययन एवं श्रवण इत्यादि उपायों के द्वारा परमेश्वर के चिदानन्द स्वरूप का ज्ञान अर्जित करता है। परमेश्वर के स्वरूप का ज्ञान होने से भक्त उसके स्वरूप में समाविष्ट होने के लिये अव्यभिचारिणी निष्ठा आकुल होगी। भक्त की यह प्रगाढ़ निष्ठा भक्ति साधना के प्रथम चरण में होनेवाली निष्ठा से भिन्न होगी। प्रारम्भिक निष्ठा तो किन्हीं विघ्नों के कारण छिन भी सकती है। किन्तु बाद वाली निष्ठा में पूर्ण स्थायित्व होता है। क्योंकि यह तो स्वरूप साक्षात्कार के बाद उत्पन्न होती है। यह निष्ठा भक्ति का दशम सोपान होती है। भक्ति का ग्यारहवाँ सोपान वह है जहाँ पहुँचकर भक्त परमेश्वर स्वरूप

१- प्रथमं महतां सेवा; तद्दयापात्रता ततः।
श्रद्धाऽथ तेषां धर्मेषु ततो हरिगुण श्रुतिः ।।
ततो रत्यङ्कुरोत्पत्तिः स्वरूपाधिगतस्ततः।
प्रेमवृद्धि परानन्दे तस्याऽथ स्फुरणं ततः ।।
भागवद्धर्म निष्ठातः स्वस्मिंस्तद्गुणशालिता।
प्रेम्णोऽथ परमाकाष्ठेत्युदिता भक्ति भूमिका ।।

ही लीन हो जाता है। उस स्तर पर पहुँचकर उसे मोक्षादि उत्कृष्ट सिद्धियाँ स्वत: प्राप्त हो जाती है।[१]

देवर्षि नारद:-

देवर्षि नारद ने नारद भक्ति सूत्र में नवधा भक्ति का निरूपण किया है। उनके अनुसार श्रवण कीर्तन स्मरण पाद, सेवा, वन्दन अर्चन दास्य, सख्य एवं आत्मनिवेदन भक्ति के नौ सोपान है। उनके अनुसार श्रवण कीर्तन, और स्मरण से भगवान के प्रति अनुराग जागृत होता है। पादसेवन, वन्दन एवं अर्चन से दास्यभाव के द्वारा भगवान के स्वरूप का ज्ञान होता है। यह भक्ति पुष्टि मार्ग की भक्ति होती है। दास्य सख्य तथा आत्म निवेदन ये तीनों मानसिक भाव है। नारद-का यह पूर्ण विश्वास था कि - जब क्षण भर के लिये भी भगवदाराधन में संलग्न रहने वाले साधक को परमपद अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।[२] तो फिर निरन्तर भक्ति में ही लीन रहने वाले साधक की स्थिति का क्या कहना अर्थात् उसे निश्चित ही स्वरूप साक्षात्कार का आनन्द प्राप्त होगा। उन्होंने भक्ति की महत्ता का वर्णन करते हुए एक स्थल पर कहा है कि पराप्रेम से युक्त साधक जब प्रभु के समक्ष आत्मसमर्पण कर देता है, तभी पापों के समुदाय स्वत: ही नष्ट हो जाते हैं[३]। तात्पर्य है। कि पराप्रेम के द्वारा भगवदनुग्रह की प्राप्ति निश्चित है और भगवदनुग्रह से मुक्ति निश्चित है। नारद के अनुसार जो भक्त मनसा वाचा, कर्मणा केवल प्रभु की ही शरण में रहने का संकल्प बना लेता है, ऐसा भक्त पराभक्ति को प्राप्त करके जीवन धारण करते हुए भी मोक्ष का पात्र हो जाता है[४]।

१- श्रवणकीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।। नारदभक्ति सूत्र

२- मुहूर्तं वा मुहूर्तार्द्धं यस्तिष्ठेद्धरिमन्दिरे।
स याति परमं स्थानं किमु शश्वन्निरता: नारदभक्ति सूत्र

३- नत्यतां श्रीपतेरग्रे तालिकावादनैर्भृशम्।
उड्डीयन्ते शरीरस्था: सर्वे पातकपक्षिण: वही।

४- ईहा यस्य हरेर्दास्ये कर्मणा मनसा गिरा।
अखिलास्वप्यवस्थासु जीवन्मुक्त: स उच्यते।। वही।

अर्थात प्रारब्ध कर्मों के शेष रहने का कारण वह शरीर तो धारण करता है किन्तु सांसारिक विकारों से वह ग्रस्त न होता हुआ सभी पदार्थों में केवल परमेश्वर का ही देखता है ।

इस प्रकार देवर्षि नारद की नवधा भक्ति का प्रयोजन भगवान के चरणकमलों में प्रणत होकर मोक्षादि सिद्धियों के साथ ही चिदानन्द स्वरूप परमेश्वरका साक्षात्कार करना भी था उनका मत था कि भक्ति के इन नवों विधियों में से किसी भी विधि के द्वारा की जाने वाली भक्ति साधना निष्फल नहीं हो सकती।

रूप गोस्वामी

देवर्षि नारद की ही भांति आचार्य रूप गोस्वामी ने भी भक्ति मार्ग की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। भक्ति की महत्ता में मग्न होकर उन्होंने भक्ति रसामृतसिन्धु, जैसे भक्तिशास्त्र का प्रणयन किया। उन्होंने साधना में भक्ति मार्ग की अपेक्षा ज्ञान कर्मादि को हेय माना। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि निष्काम भाव से कृष्ण के प्रति अनुराग करने से उत्तम अर्थात पराभक्ति प्राप्त होगी और पराभक्ति से स्वरूप साक्षात्कार होगा।

आचार्य रूप गोस्वामी ने भक्ति के अनेकों भेद बताये हैं किन्तु नवधा भक्ति का भी उन्होंने समर्थन किया है, इतना अवश्य है कि नारद ने नवधाभक्ति को जिस क्रम में रखा है। उस क्रम में वह भक्तिरसामृत सिन्धु में नहीं मिलती। भक्तिरसामृत सिन्धु में वह क्रम अर्चन, परिचर्या, संकीर्तन, जप, स्तवपाठ श्रवण, स्मृति ध्यान, दास्य, आत्मनिवेदन, तथा सख्य, इस रूप में मिलता है। आचार्य रूप गोस्वामीने भक्ति के व उपरोक्त क्रमों के ही आधार पर मुख्यतया चार प्रकार की भक्ति का प्रतिपादन किया है, जिनको दास्यभाव, सख्यभाव, प्रेमभाव, एवं

और भिन्नरुचि सख्य भेदसे दो प्रकार को निरूपित किया है। उनके अनुसार श्रद्धा के साथ अपनेको परमेश्वर का ही अंग समझता हुआ जो साधक भक्ति करता है वह विश्वास सख्य साधक कहलाता है।[1] और जो साधक भक्त परमेश्वर के प्रति परानुराग से अभिभूत होकर प्रेमरस में ही सदैव प्रवाहित होता रहता है तथा जिसे विधिविहित मार्ग की अपेक्षा नहीं होती वह भिन्नरुचि वाला भक्त कहलाता है।[2]

७- आत्मनिवेदन भाव

माधुरी भाव का अन्तिम सोपान आत्मनिवेदन कहलाता है। इसी का रूप और अनन्य शरणागति भी है। भक्तिरसामृत सिन्धु में यह भाव दो प्रकार का मिलता है। जो भक्त परमेश्वरके चरणाम्बुजों में एकाग्रचित्त होकर अपनी इस भौतिक देह को उसी परमपिता परमेश्वर को समर्पण करके भजन, पूजन इत्यादि करता वह देहसमर्पण आत्मनिवेदन कहलाता है।[3] और जो सख्यभाव से अत्यधिक प्रेम से युक्त होकर परमेश्वर के समक्ष अपनी दीनताओंको प्रकट करता है वह देहसमर्पण आत्मनिवेदन कहलाता है।[4] जैसा कि रुक्मिणी ने किया था।

तन्मे भवान् खलु वृतः पतिरङ्ग जाया।
मात्मार्पितश्च भवतोऽत्र विभो। विधेहि ।भक्तिरसामृतसिन्धु
पृ० ६६

१- श्रद्धामात्रस्य तद्भक्तावधिकारित्वहेतुता ।
अङ्गत्वमस्य विश्वासविशेषाय तु केशवे ।। भक्तिरसामृतसिन्धुपूर्व वि०२।३६
२- रागानुगाङ्गतास्यं स्वविधिमार्गानपेक्षणात् ।
मार्गद्वयेन चैतेन साध्या सख्यरतिर्मता।। पूर्वविभाग २।३७
३- देहार्पणतास्पदं केशवे केशिचन्नमत्यनात् ।। वही।

४-१- दुष्करत्वेन विरलं कृत्यात्मनिवेदनं

५- प्रेमाभाव भक्ति :-

जिस भक्ति में साधक भक्त बाह्य उपचारों और शास्त्रों के विधि विधानों की ओर विशेष ध्यान न देता हुआ। स्वभाविक रीति से केवल कृष्ण अर्थात परमेश्वर के प्रति ही रागवान् होता है और इस प्रकार पराप्रेम के द्वारा अपने को अभिन्न रूप से उस जगन्नियन्ता परमात्मा के साथ संयुक्त करता है हुआ तन्मय हो जाता है, वह प्रेमभाव का साधक भक्त उत्कृष्ट कोटि का भक्त होता है। परमेश्वर के प्रति उसका यह परमप्रेम परमानन्द रस का उत्पादक होताहै, जिसका पान करके भक्त मोक्षादि सिद्धियों को अनायास ही प्राप्त करके परमधाम में पहुँच जाता है। आचार्य रूपगोस्वामीने इस प्रेमरूपा भक्ति को कामरूपा और सम्बन्धरूपा भेद से दो प्रकार से निरूपित किया है[१]। उनके अनुसार काम, राग, द्वेष इत्यादि भाव से परमेश्वर में चित्त को लगाने वाला साधक कामरूप साधक कहलाता है। ऐसे साधकों की कोटि में गोपियाँ कंसादि आते हैं। जो भक्त एकाग्रचित्त से परमेश्वर के साथ हर प्रकार के सम्बन्धों को जोड़ता है वह सम्बन्धरूपासाधक होता है।

इस प्रकार भक्ति रसामृत सिन्धु मे भक्ति के विभिन्न भाव दृष्टिगोचर होते है, किन्तु उन सब में प्रेमकी ही प्रधानता है यही कारण है कि उनके भक्ति रसामृतसिन्धुमें सर्वत्र प्रेमरस की सुरसरिता प्रवाहित हुई है, यहाँ तक कि उसमें शास्त्र शास्त्रविहित नहीं रहा

- - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु ।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते ॥
इष्टे रागानुगाविष्टे यीनाही रागात्मिकोच्यते ।
इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत्।
तन्मयी या भवेद्भक्तिः सात्र रागात्मिकोदिता
सा कामरूपा सम्बन्ध रूपा चेति भवेद्‌द्विधा भक्तिरसामृतसिन्धु स २।१५०,१५१-१५२

श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है[1]। अतः कह सकते हैंकि आचार्यवल्लभ की पुष्टि भक्ति एकमात्र परमेश्वरीय अनुग्रह से ही परिस्पन्दित होती है। वल्लभाचार्य के अनुसार आत्मस्वरूप और भगवत्स्वरूप का ज्ञान । बहुत कठिन है अतः मनुष्यों के लिये पुष्टि मार्ग श्रेष्ठ मार्ग है ।

ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु।
अनुग्रहः पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थितिः ।।[2]

आ० वल्लभ के अनुसार पुष्टिमार्गीय जीव शुद्ध और मिश्र भेद सेदो प्रकार के होते है। इनमें से उन्होंने शुद्धपुष्टि मार्गीय भक्तको श्रेष्ठ माना।

२- प्रवाह मार्गः-

प्रवाह मार्ग के अनुसार संसार के साथ बहने और उसमें प्रवृत्ति कारक साधनों के सम्पादन के मार्ग को प्रवाह-मार्ग कहा गया है इसमें लोग लौकिक, काम्य कर्मों में लगे रहते हैं।इस मार्ग के अनुसार जब तक सृष्टि है तब तकप्रवाह मार्गीय प्राणी भी इस संसार में भ्रमण करते रहेंगे ।[2]

३- मर्यादा मार्गः-

वेद, शास्त्रों के बताये हुए कर्तव्य मार्ग को मर्यादामार्ग कहा भ गया है। इस मार्ग में लोकरक्षा औरलोकसंग्रह के भाव साथ में निश्चित रूपसे लगे रहते है[2]।

- -

चतुर्थअध्याय चतुर्थपाद सूत्र ६ टीका
१- श्री कृष्णानुग्रहरूपाहि पुष्टिः ; तत्वदीप निबन्ध,भागवतार्थ प्रकरण निर्णय सागर प्रेस बम्बई ।

२- सिद्धान्त मुक्तावली -१८

३- गुप्त दीनदयाल - अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय
पृ० ९३५४
सं० २००४, इलाहाबाद भार्गव प्रिन्टिंग

इस प्रकार आ० वल्लभ ने उक्त तीन प्रकार के भक्ति मार्गों का विधान किया। किन्तु इन तीनों में से उन्होंने पुष्टिमार्गीय भक्ति को श्रेष्ठतम निरूपित किया। उनकी दृष्टि में सब कुछ अपने आराध्य को अर्पित कर निश्छल भाव से भक्ति करना यम नियमादि युक्त [illegible] मर्यादादि मार्गों से श्रेयस्कर है।

-: भक्त सूरदास :-

भक्त सूरदास ने अपनी रचनाओं में भक्ति को सर्वोपरि स्थान दिया है। भागवत में भी भक्ति को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ है। किन्तु उसमें भक्ति के साथ २ ज्ञान और कर्म की भी प्रतिष्ठा की गयी है। भक्त सूरदास ने भक्ति के अलावा ज्ञान और कर्म की प्रतिष्ठा नहीं की तथा भक्ति के विविध पहलुओं पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वे नवधा भक्ति के पोषक तो थे, किन्तु पुष्टि मार्गीय भक्ति के द्वारा राग पूर्ण प्रभु के प्रेम में मस्त रहना उनकी दृष्टि में अधिक श्रेयस्कर था। उनकी यह स्पष्ट धारणा थी कि परमेश्वर के प्रति सुदृढ़ स्नेह की पराकाष्ठा, ज्ञान-योग तथा उपासना आदि उपायों की अपेक्षा नहीं रखती। उन्होंने ज्ञान, योग तथा उपासना आदि को भ्रम निरूपित किया। भगवान कृष्ण के प्रति परानुरक्त गोपियां योग, ज्ञानादि की शुष्क साधना को तिरस्कृत करते हुए उद्धव से कहती है।-

ऊधौ जोग जोग हम नाहीं।
अबला सार ज्ञान कह जानैं, कैसे ध्यान धराहीं।
तेई मूंदन नैन कहत हो, हरि मूरति जिन माहीं।
ऐसी कथा कपट की मधुकर, हमतैं सुनी न जाहीं।
श्रवन चीरि सिर जटा बंधावहु, ये दुख कौन समाहिं।

चंदन तजि अंग भस्म बतावत, विरह अनल अति दाहीं ।
जोगी प्रगट आहि मूठे सो तो है अब माहीं ।
सूर स्याम ते न्यारी न पल छिन, ज्यों घट ते परछाहीं । स्स-न

इस प्रकार स्पष्ट हैकि सूरदास को उपासना का मार्ग अभिष्ट नहीं था इसीकारण सेवक उपासनादि को छोड़कर हरि लीला, गायन, में प्रवृत्त हो गये थे।[१] अतः कहा जा सकता हैकि पुष्टि मार्ग पुष्टि भक्ति हरि लीला केन्द्र के चारों ओर व्याप्त है ।

अब यह प्रश्न हो सकता हैकि क्या पुष्टिमार्ग उपासना मार्ग नहीं है।? इसके उत्तर में कहा जासकता है कि सूरदास ने जिस उपासना को तुच्छ कहा वह वैधी उपासना है, जिसमें विधि निषेधवादि की बाधायें है। पुष्टि मार्ग उपासना मार्ग नहीं है, वह तो सेवा मार्ग है । तुच्छ उपासना से तात्पर्य निर्गुण ब्रह्म की उपासना से है। उसमें विधि निषेध प्रधान कर्म और योग आदि के अभ्यास आते है। सेवा तो साक्षात् सगुण ब्रह्म की की जाती है। मानव के लिये यही सर्वश्रेष्ठ उपाय है सूर को यही मार्ग अभीष्ट था। इसीलिये उन्होने निर्गुण ब्रह्म कीउपासना का उपहास किया ।[२]

निर्गुण कौन देस को बासी।
मधुकर कहि समुझाई सौंह दै, बूझति सांच न हांसी
कोहै जनक कौन जननी, कौन नारि को दासी ?
कैसो बरन, भेष है कैसो किहि रस में अभिलाषी ?
पावैगो पुनि कियो आपनो जो रे कहैगो गाँसी।
सुनत मौन है रह्यो बावरो सूर सबै मति नासी।

१- जा दिन ते हरि लीला गाई एक लक्षापद बन्द ।
ताको सार सूरसारावली गावत अति आनन्द,।। सूरसारावली ११०३

२- सूरसागर ।

ऊधो सुधे नेकु निहारौ
हम अबलनि को सिखवन आये सुना सयान तुम्हारौ
निर्गुण कहा कहा कहियत है तुम निर्गुण अति भारौ।
सेवत सुगणश्याम सुन्दरको मुक्ति लही हम चारौ
हम सालोक्य स्वरूप सरोज्यौ रहत समीप सहाई।
सो तजि कहत और की औरै तुम अति बड़े अदाई
अहो ज्ञान कथहि उपदेशत ज्ञान रूप हमहीं
निस ध्यान सूर प्रभु को अलि देखत जित तितही।

सूरसागर १०।

इसके विपरीत सगुण ब्रह्म के प्रति परमप्रेम की श्रेष्ठता पर बल दिया। वे अपने आराध्य भगवान कृष्ण के प्रति इतना अनुरक्त थे कि उन्हें क्षण भर के लिये भी अपने नेत्रों के सामने से वियुक्त नहीं करना चाहते थे। अपने इन उद्गारों को सूरने ब्रजवासिनी गोपिकाओं के माध्यम से इस प्रकार व्यक्त किया है।[1]

अँखियाँ हरि दरसन की भूखी।
कैसे रहैं रूप रस राची ये बतियां सुनि रूखी
अवधि गनत इकटक मग जोवत तब एती नहि झूखी।
अब इन जोग संदेसनि ऊधो, अति अकुलानी दूखी।
बारक वह मुख फेरि दिखावो, दुहि पय पियत पतूखी
सूर, सिकत हठि नाव चलावो, ये सरिता है सूखी।

भक्त सूरदास के इस सेवा मार्ग में पूर्वकाल की नवधा भक्ति भी इसमें अभिनव रूप में समाविष्ट हुई है। नवधा भक्ति के श्रवणकीर्तन और स्मरण हरिलीला से सम्बद्ध होकर भगवान की नाम लीला परक क्रियायें बन गये। पादसेवन, अर्चन और वन्दन हरि (श्री कृष्ण) के

१- सूरसागर।

प से सम्बद्ध हो गये। दास्य, सख्य, और आत्मनिवेदन उन भावों से सम्बन्ध हो गये, जिन्हे लेकर गोप, गोपिकाये प्रभु के समस्त लीलाओं में निरत हो गये। इस प्रकार भक्त सूरदास ने भक्ति का प्रत्येक अंग हरिलीला के अन्तर्गत ही समाविष्ट करके भक्ति में एक प्रकार का चमत्कार उत्पन्न कर दिया। उनके भक्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण के विशेष स्पष्टीकरण के लिये निम्नविवेचन अपेक्षित है।

सूरदास साहित्य आदिर समाविवेच

भगवान् की वैधी भक्ति की अपेक्षा साक्षात् दृश्य भगवान बालकृष्ण के प्रति प्रेमात्मिका भक्ति को ही उत्तम मानते है। अत:उनकी इस प्रेमात्मिका भक्ति को पांच रूपों में विवेचित किया जा सकता है।

क :- विनय भक्ति

वैराग्य दैन्य एवं विनय आदि भावो से प्रेरित होकर भक्त सूरदास ने जिन पदों का प्रणयन किया, वे विनय या शान्ता भक्ति के अन्तर्गत आते है, , विनय भक्ति की अवस्था में भक्त अपने को दीन हीन समझता हुआ परमेश्वर को ही आनन्दियन्ता, अजेय, सर्वैश्वर्य-सम्पन्न पतितपावन समझता है।[१] भक्त सूरदास ने ऐसे अनेकों पदो की रचना की है। जिनमें दैन्य भाव स्पष्ट रूपेण परिलक्षित होता है। वे अपने आराध्य

१- प्रभुको देखौ एक सुभाई

अति गम्भीर उदार उदधि हरि, जान सिरोमनि राई

तिनका समझने अनको, गुन मानत कै समान

सकुचि गनत अपराध समुद्रहि बूंद तुल्य भगवान

. . . .

सूरदास ऐसे स्वामी को देहि पीठि सो अभागे।

सूर संकलन ,२

भगवान् कृष्ण से कहते है कि हे प्रभु, पतितों का उद्धार करना आपका व्रत है और मुझसे बढ़कर कोई भी पतित आपको नहीं मिल सकता है।[१]

मोहि प्रभु तुमसौं होड परी ।
ना जानौं करिहौ जु कहा तुम नागर नवल हरी ।।
जुतो जितो जग मैं अघमाह * सो मैं सबै करी
अघम समूह उधारन कारन तुम जिय जक पकरी ।।
मैं जु रह्यो राजीव नैन दुरि पाप पहार दरी।
पावहु मोहि कहाँ तारन कौं गूढ गंभीर खरी।।
एक अधार साधु संगति कौ रचि पचि मति संचरी।
याहू सौंज संचि नहि राखी अपनी धरनि धरी।।
मोकौ मुक्ति बिचारत हौ प्रभु पचिहौ पहर घरी ।
श्रम ते तुम्हें पसीना ऐहैकत यह टेक करी।।
सूरदास बिनती कहा बिनवै दोषनि देह भरी।।
अपनौ बिरद सम्हारहुगेतो यामैं सब निबरी।।

और भी ।[२]

नाथ सकहु तौ मोहि उधारौ ।
पतितनि मैं बिख्यात पतित हौं पावन नामतिहारौ ।।
बड़े पतित पासंगहु नाहीअजामिल कौन बिचारौ
भाजै नरक नाम सुनि मेरो जम दीन्यौ हठि तारौ

१- सूरसागर - प्रथम स्कन्ध १३०

२- सूरसागर - प्रथम स्कन्ध १३१

सुपतित तुम तारि रमापति अब न करौजिय गारौं
सूर पतित कों ठौर कहूं नहि तो बहत बिरद कत मारौं ।

इस प्रकार भक्त सूरदासने सांसारिक मायाजाल मेंफंसे हुए जीव के उद्धार के लिये विनय विनय मार्ग का निरूपण किया। उनका विश्वास था कि अनन्य भाव से विनय स्तुति के द्वारा प्रभु की शरण शरणमें आने से जीव का सहज ही उद्धार हो जाता है ।

ख:- वात्सल्य भक्ति:-

मनोवैज्ञानिक दृष्टि से देखने पर वात्सल्य भक्ति अन्य सभी प्रकार के भक्ति मार्गों की अपेक्षा श्रेष्ठ प्रतीत होतीहै। क्योंकि इस भक्ति मार्गमें स्वार्थ कागन्ध तक नहीं होता । सूरदास के पदो में वात्सल्य भक्ति संयोग और वियोग भेद सेदो प्रकारकी परिलक्षित होती है। जन्म से लेकर कृष्ण के मथुरागमन तक यशोदा में वात्सल्य का संयोग पक्ष अभिव्यक्त है और मथुरा गमन केपश्चात् वियोग पक्ष ।

संयोग पक्ष में नन्द बाबा कृष्ण को भोजन कराते समय जिस सुख का अनुभव करते है, वह सुख तीनों भुवनों में किसी को भीसुलभ नहीं है। कृष्ण स्वयं तोखाते ही साथ नन्द को भी खिलाते हैं सूर के संयोग पक्षका यह सुख अन्यत्र दुर्लभ है। जब कृष्ण ब्रज से चले जाते है। तो यशोदा को चिन्ता होतीहै। उनको यह विश्वास ही नहीहोता कि उनके समान कृष्ण से कोई और भी प्रेम करेगा। उनकीयह धारणा हैकि जिस वात्सल्य भाव से मै कृष्ण को रखती थी औरजिस निस्संकोच-भाव से कृष्ण मैं साथ रहता था। वह भाव उसे कहीं और भी मिलेगा।[2]
सूरदास की वात्सल्य भाव कीयहभक्ति शुद्ध पुष्टि के अन्तर्गत आती

- - - - - - - - - - - -

१- जेवत स्याम नन्द की कनियाँ

है। सूर ने इसी शुद्ध पुष्टि मार्ग के माध्यम से सख्य, माधुर्यादि भक्ति का विवेचन किया है। शुद्धपुष्टि मार्गीय भक्ति का यह वैशिष्ट्य है कि इसमें केवल शुद्ध अनुराग के द्वारा ही परमात्मा साक्षात्कार प्राप्त करना सुलभ होता है ।

ग- सख्य भक्ति :-

आचार्य वल्लभ को दास्य और विनय की उपासना स्वीकार न थी किन्तु उनके शिष्य सूरदास के पद जहां एक ओर दास्य भाव से ओत प्रोत है वहां दूसरी ओर उनमें सख्यभाव के पदों के भी दर्शन होते है । भक्त सूरदास ने अपने स्वामी अर्थात भगवान कृष्ण के समक्ष मित्र भाव से अपनी कोई भी बुराई बताने में संकोच नहीं किया। सूरदास के पदों में सख्य भाव की भक्ति की चर्चा में प्राप्त होती है ।

(i) ब्रज के गोप ग्वालों के लिये कृष्ण सखा हैं उनमें, आपस में कभी ईर्ष्या द्वेष मनोमालिन्य कलह इत्यादि कभी भी नहीं उत्पन्न होता कृष्ण के मथुरा चले जाने पर गोपियों की ही भांति सखा गोप भी विरहाकुल होते हैं ।

खेलत आंक गाढ़ बिसराइ
सखा श्रीदामा कहत सुबन सों, काकहि में तुम रहे भुलायो।
भुवाये ग्वाल घेरि गहि, गोकुल देखि स्याम मन हरष बढ़ाई

(ii) सूरसागर की रचना सख्य भाव से हुयी है। यदि व्यापक दृष्टिकोण से देखा जाय तो कृष्ण की प्रत्येक लीला भक्तों के साथ ही होती है। भक्त सूरदास ने कृष्ण की प्रेमलीलाओं का वर्णन अभिन्न भाव से किया है । राधाकृष्ण के केलि कुतूहल को भी वह तटस्थ होकर नहीं देखता बल्कि उसमें रस लेता है भक्त की यही तन्मयता की स्थिति होती है ।

प्रिया मुख देखो स्याम निहारि
कहि न जाई आनन की शोभा रही बिचारि बिचारि
सन्मुख दृष्टि परे मनमोहन लज्जित भई सुकुमारि

सख्य भाव में भक्त भगवान के साथ औपचारिक शिष्ट व्यवहार को छोड़ कर उसे तू तू कह कर उलाहने देने लगता है सामने निन्दा करने लग लगता है और अपना काम हठपूर्वक कराने का यत्न करता है।

को बाबा नहि पेट कसायो, हम तुम इक बोटा
कहा भयो जो नन्द बड़े तुम तिनके ढोटा खेलत में कह छोट बड़ हमहूं
महर के पूत मेद दिये ही पै अने छांडि देहु मति पूते ।[1]

पारस्परिक मेल मिलाप के भावचित्र कृष्ण की सभी लीलाओं मे मिलते हैं। गोवर्धन धारणा के समय ग्वाल बाल पर्वत धारणा में कृष्ण की सहायता करने को आतुर है।:-

गिरि जनि गिरै स्याम के कर तें।

+ + +

ले ले लकुट ग्वाल सब धाये
करत सहाय जु तुरते।[2]

<u>घ:- माधुर्य भाव भक्ति:-</u>

सूर की माधुर्य भावकी भक्ति श्रृंगारात्मक प्रेम की भक्ति कही जा सकती है। लेकक नायिका के लौकिक प्रेम के जितने भी रूप है। वे सब सूर की माधुर्यभाव की भक्ति मे आ सकते है। आराध्य और आराधक का प्रियतम प्रियतमा के रूपमें मिलन मधुर भक्ति है।यह भक्ति हमे सूर के अलावा क बीर जायसी मीरा, इत्यादि की कविताओं में भी मिलतीहैं। कृष्ण की दान लीला, पनघट लीला तथा रास लीला भ्रमरगीत इत्यादि के अन्तर्गत आने वाले सभी पद मधुर भक्ति के अन्तर्गत आते है। सूरके पदों

१- सूरसागर ना०प्र० सभा दशम स्कन्ध पूर्वार्द्ध पद स० ११५५
२- वही पद १४६१

घ:--माधुर्य-भाव-भक्ति:-

ऐसी भक्ति संयोग पक्ष और वियोग पक्ष के भेद से दो प्रकार की निरूपित की गयी है। संयोग पक्ष में कृष्ण की मोहिनी मूर्ति गोपियों को अत्यधिक आकृष्ट करती है वे उनकी रूपसौन्दर्य में पर अपने को न्योछावर कर देती है।[१] वियोग पक्ष में कृष्ण जब ब्रज को छोड़कर मथुरा चले जाते है तो साथ में गोपियों के मन को भी ले जाते है। तभी तो वो गोपियां उद्धव के निर्गुण ब्रह्म की उपासना में अपनी असमर्थता व्यक्त करते हुए कहती है। कि हे उद्धव मन दस बीस तो होते नही वह तो एक ही होता है, जो कृष्ण के साथ चला गया है तात्पर्य यह हैकि गोपियां कृष्ण[२] पर इतनाआसक्त हैकि वे उनका क्षण भर वियोग नही सहन करसकती और न किसी अन्य मार्ग का अनुसरण कर सकती हैं कृष्ण के प्रति उनके मन में परिपूर्ण एकाग्रता है

ङ:- आत्मनिवेदन भाव भक्ति:-

जब जीवकोसांसारिक विपत्तियों से निर्वेद हो जाता है तो वह परमेश्वर की शरण में जाताहै। प्रभु की शरण में जाकरवह अपने अहंकार को भी प्रार्थनाकरता है,यह आत्मनिवेदन भाव के अन्तर्गत माना जाता है। सूरदास ने स्पष्ट शब्दों में कहा हैकि अधम व्यक्ति भी यदि परमेश्वर की

- -

१- मोहनी मोहन को प्यारी
रूप उदधि मथि के विधि, उठि पचि रची युवति सब न्यारी
सूरदासप्रभु रति बसकीन्हे, अंग अंग सुकुमारी   सूरसागर २०/४१८

२- उधो मन न भये दसबीस
एक हुतो सो गयो स्याम संग को आराधे ईस
सूर हमारे नन्दि नन्दन बिनु और नही जगदीश

शरण में जाता है तो वह अनुग्रह का पात्र होता है। विशेषकर इस कलियुग में तो परमेश्वर की शरण में जाना अन्य साधनों की अपेक्षा श्रेयस्कर है।[1]

इस प्रकार सूर की भक्ति के विवेचन से यह बात सुस्पष्ट हो जाती है कि उन्होंने जिस भक्तिका प्रतिपादन किया केवल भक्ति परमात्मा को प्राप्त करनेका केवल साधन ही नहीं है। बल्कि साध्य भी है। जिसकी प्राप्ति के अनन्तर कुछ भी प्राप्तव्यशेष नहीं रह जाता है

आचार्य उत्पलदेव

आचार्य उत्पलदेव काश्मीर शैव दर्शन के प्रथम आचार्य है। जिन्होंने शिवस्तो० जैसे भक्ति प्रधान ग्रन्थ का निर्माण करके इस दर्शन को एक और वैशिष्ट्य से समन्वित कर दिया। शिवस्तो० मेंपरमशिव के साथ परिपूर्ण ऐक्य के स्थापन के लिये भक्ति को सरलतम उपाय निरूपित किया गया है। भक्तसूरदास की ही भांति आ० उत्पलदेव ने भी ज्ञान योगादि मार्ग को भक्ति मार्ग के समक्ष कष्टसाध्य एवं निम्नस्तर का निरूपित किया है। तभीतो शिवस्तो० का भक्त ज्ञान योगादि की अपेक्षा पराभक्ति के माध्यम से उस अलौकिक रस को पान करने का ही इच्छुक बना रहता है,[2]

1- माधो जू मन ते बिसारे।
तऊ कृपाल करुनामय केशव, प्रभु नहि जीय धरैं।
इहि कलिकाल व्याल मुख ग्रासित सूर सरन उबरे। सूरसागर

2- त्वत्प्रभुत्वपरिचर्वणजन्मा कोऽप्युदेतु परितोषरसोऽन्त:।
सर्वकालमिह मे परमस्तु ज्ञानयोग महिमादि विदूरे ।। शिवस्तो० 8।2

जिसके पीने से सम्पूर्ण भेद प्रथा नष्ट हो जाता है। और सब कुछ शिवरूप ही समझने लगता है। आ० उत्पलदेव के अनुसार भक्ति परमेश्वर के अनुग्रह से प्राप्त होती है।[1] जब जीवको श्रवण कीर्तन इत्यादि के द्वारा अथवा गुरु शास्त्र के द्वारा किसी तरह यह ज्ञान हो जाता है कि यह संसार वास्तव में दुःखों का घर होहै, यहां प्राप्त होने वाला सुख भी चिरस्थायी नहीहै, जोकुछ भी सत्य है वह परमेश्वर ही है। उसके सिवा किसी की भी स्थायीसत्ता नहीं है।[2] जीव मेंइस प्रकार के भाव परमेश्वर के अनुग्रह से ही उदय होते है और अनुग्रह भक्ति से होता है। तात्पर्य यह हैकि अनुग्रह से भक्ति बढ़ती है। भक्ति से अनुग्रह बढ़ता है। साथ साथ दोनों की वृद्धि होती है।[3] अतः भक्ति को ध्यान, जप, इत्यादि विधि विहित मार्गों की अपेक्षा नहीं होती, इसमें तो केवल चित्त की एकाग्रता एवं परमेश्वर के प्रति परम प्रेम की अपेक्षा होती है।[4] इसी बात को भगवान कृष्ण ने गीता में कहा हैकि जो साधक अपने मन को एकाग्र करके श्रद्धा के साथ मुझमें मना को लगाता है, वह श्रेष्ठ भक्त आत्म साक्षात्कार का पक- पक-पात्र होता है।[5] यहां युक्त शब्द से

- -

१- यथैवाज्ञातपूर्वोऽयं भवद्भक्तिरसो मम ।
घटितस्तद्वदेवाद्य स एवं परिपुष्यतु ।। वही १६।५

२ संसाराध्वा सुदूरः खरतरविविधव्याधिक्लिष्टः
भोगो नैवोपभुक्ता यदपि सुखमभूत्तातुलल्पोचिराय
इत्थं व्यर्थीभूत जातः शिवचरणाक्रान्तिकान्तोऽभ्याद्
स्वप्नवत्तेवति तन्मे कुं, तदपि महासम्पदो दीर्घदीर्घाः
वही १८,१८

३- [illegible]
त्वं भक्त्या प्रीयसे भक्तिः प्रीते त्वयि नाथ यत्
तदन्योन्यानुरूप्यं यथा वेत्थ त्वमेव तत्।। वही १६।२१

४- न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम् ।
एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनः ।। वही १।१

५- मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।। गीता १२।२

धर्मों का स्वात्म परमेश्वर ही अभिप्रेत है।

आचार्य उत्पलदेव ने शिवस्तो०में भक्ति को मुख्यतया तीन रूपों मेंअभिव्यक्तकिया है ।

क- अपराभक्ति

ख- परापरा भक्ति

ग- परा भक्ति

-: अपराभक्ति :-

अपरा भक्ति भेदमयी भक्ति है, किन्तुफिर भी इसमें अभेद की भावना साथ रहतीहै। आ० उत्पलदेव को नारदभक्ति सूत्र में उल्लिखित भक्ति भी अभीष्ट है। उनकी अपरा भक्तिको नवधा भक्ति के समान कहा जा सकता है, भेद केवल इतनाहै कि उनकी अपराभक्ति मे भी कर्म की प्रधानताहोती तो है, परन्तु साथ ही साधक सदैव अभेद के प्रति उन्मुख बनारहता है । जबकि नारदीय नवधा भक्ति मे यह वैशिष्ट्य नहीं है।इस अपरा भक्ति की अवस्था मे साधक भक्त अपने किसीभी स्नानादानादि कर्मों को न त्यागता हुआ ही इसी दुःखपूर्ण संसार[1] में निवास करते हुए भी भगवान के साक्षात्कार का आनन्द प्राप्त करते है । ऐसे भक्तों कीयह विशेषतया होतीहै कि वे सांसारिक कर्मों को करते हुए भी केवल बाह्य जप, होम पूजा आदि के द्वारा ही स्वरूप समावेश रूपिणी परमसिद्धि को प्राप्त कर लेते है ।[2] इस प्रकार परमेश्वर के प्रति परानुराग से युक्त साधकों के सभी कार्य भक्ति रस से आप्लावित हो जाते है। वेसभी जागतिक क्रियाओं को करते

- -

१- न क्वापि गत्वा हित्वापि न किंचिदिदमेव ये ।
मन्दं त्वद्धाम पश्यन्ति भव्यास्तेभ्यो नमो नमः ।। शिवस्तो १०।१०

२- कात्स्न्येनमव्ड़क्तिमाशां पूजाविधिः परः।
वस्तुनो: क्रियमाणोऽपि रसैरेवाचकल्पते ।। वही १७।४८

करते हुए भी परमेश्वर के साथ परिपूर्ण ऐक्य की स्थापना के लिये लालायित हो बने रहते है।[1] भागवत मे भी एक स्थल पर गोपियों की कृष्ण के प्रति अनन्य प्रधान भक्ति का विवेचन करते हुए भागवतकार ने कहा है कि जो गौओ को दुहते समय, धान, आदि कूटते समय, दही बिलोते समय, आगन लीपते समय बालको को पालने पर झुलाते समय, रोते हुए बच्चों को लोरी देते हुए, घरों मे जल छिड़कते हुए प्रेमपूर्ण चित्त से गदगद वाणी मे श्रीकृष्ण का गान किया करती है। इस प्रकार श्री कृष्ण में ही चित्त को लगाये रखने वाली वे व्रजवासिनी गोपरमणियां धन्य है।[2] परन्तु समावेशशाली शिव भक्त का यह प्रे न तो यशोदा और कृष्ण का जैसा वात्सल्य ही होता है। और न राधा कृष्ण का जैसा कामात्मक प्रेम ही होता है। वात्सल्य और माधुर्य दोनों ही भाव भेदनिष्ठ है। उत्पलदेव का शि वनिष्ट प्रे अभेदभावनिष्ठ विशुद्ध स्वात्म प्रेम है। पूर्वयुगो मे उपनिषदो के ऋषियों ने इसी स्वात्म प्रेमका वर्णन बृहदारण्यक आदि में करते हुए कहा था। स्वात्मन: कामाय सर्वमिदं प्रियं भवति, इत्यादि। अपना आप ही सबसे अधिक प्यारा होता है फिर जब साधक अपने आप को साक्षात् पहचानता है कि मै अपने आप ही सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हूं ,, तो फिर उसका स्वात्म प्रेम उच्चतम पराकाष्ठा पर पहुंच जाता है और साधक सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है ऐसा स्वात्मशिव के प्रति अभेदनिष्ठ प्रेम ही उत्पलदेव की पराभक्ति है। तभी कहे।

१- भक्तिमदजनितविभ्रम वशेन पश्यन्ति भक्ते करणी:।
शिवमयमखिलं लोकं क्रियाश्च पूजामयो, सकला शिवस्तो ७।८

२- या दोहनेऽवहनने मथनोपलेपप्रेङ्खेङ्खनार्भरुदितोक्षणमार्जनादौ।
गायन्ति चैनमनुरक्तधियोऽश्रुकण्ठ्यो धन्या व्रजस्त्रिय उरुक्रमचित्तयाना
भागवत।

आशय यह है कि परमेश्वर के प्रतिपराशक्त ऐसे भक्त को विषय सुख की लेशमात्र भी इच्छा नहीं होती क्योंकि वह परमेश्वर के उस परमधाम की प्राप्ति का इच्छुक बना रहता है जहां, भ्रम, अहंकारादि दोषों का नामनिशान तक नहीं रहता, वहां मुक्ति इत्यादि सिद्धियां स्वतः ही प्राप्त हो जाती है। भक्त सूरदास भी ऐसे ही भक्ति के समर्थक थे। उनकी दृष्टि में यह संसार मात्र भ्रम के ढेरे के सिवा और कुछ भी नहीं था। अतः परमेश्वर का वियोग उन्हें क्षण भर के लिये सह्य न था और यह ठीक भी है। क्योंकि परमेश्वर से वियोग का अर्थ है सांसारिक कष्टों के साथ संयोग। सूरदास के इस पद से उनका यह दृष्टिकोण स्पष्ट होता है।[१]

चकई री चलि चरन सरोवर जहां न प्रेम वियोग ।
जहं भ्रम निसा होत नहिं कबहूं, सोइ सायर सुख जोग
जहां सनक सिव हंस मीन, मुनि, नख रवि प्रभा प्रकास
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि डर गुंजत निगम सुवास
जिहिं सर सुभग मुक्ति, मुक्ताफल, सुकृत अमृत रस पीजै
सो सर छांड़ि कुबुद्धि विहंगम, यहां कहा रहि कीजै
लछमी सहित होति नित क्रीडा सोभित सूरजदास
अब न सुहात विषय - रस छीलर, वा समुद्र की आस किन्तु-डा०

किन्तु डा० उत्पलदेव का भक्त सूर के भक्त से भी उत्कृष्ट कोटि का प्रेमी भक्त है क्योंकि सूरदास की भक्ति में भक्त और भगवान के बीच में परस्पर भेद का भाव विद्यमान रहता है। परन्तु उत्पलदेव की भक्ति में भक्त भावसमाधि में इतना तन्मय हो जाता है उसकी भेददृष्टि का

१- सूरसंकलन

संस्कार भी मिट जाता है। आचार्य महोदय ने स्पष्ट कहा है ।

तवेश भक्तेरर्चा या दैन्याशंस्य संश्रयम् ।

विहाय्यास्वादयन्त्येता वपुरस्यामृतामयम् ।।[1]

अभेद की इस स्थिति में भक्त के नेत्रों से आनन्दाश्रु प्रवाहित होने लगते है, जिससे उसकी वाणी भी अवरुद्ध हो जाती है प्रेम की यह पराकाष्ठा होती है । उसका मन समाधि तथा व्युत्थान दोनों ही अवस्थाओं में परमात्मसाक्षात्कार के लिये उत्कण्ठित बना रहता है ।[2]

आनन्दबाष्पपूर-

स्थगितपरिभ्रान्तगद्गदाक्रन्दः ।

हाहोल्लासित वदन,

स्वस्थ्यमपश्यन् कदा स्यामि ।।

आ० उत्पलदेव की इस प्रेममयी भक्ति के भीतर सख्य भाव की भक्ति के भी अनेकों तत्त्व विद्यमान रहते है परन्तु भेदभाव मिट ही जाता है। प्रेमभक्ति के उल्लास में उल्लसित साधक भक्त के समस्त कार्य सख्य भाव से ही होते है। इस भाव में भक्त के सभी आचरण निश्छल होते है। क्योंकि वह इस स्थिति में परमेश्वर की प्राप्ति के लिये न तो दैन्य का प्रदर्शन करता है और न जप तप ध्यानादि का सहारा लेता है। बल्कि वह पराप्रेम की धारा से ही परमेश्वर के ज्ञान क्रियात्मक स्वरूप का साक्षात्कार प्राप्त करने के लिये लालायित बना रहता है ।[3]

- -

१- शिवस्तो०

२- वही १।१६

३- वही ११।७

यति ते न तु किंतेकन्यदन्य

दवनने कर्मणि बाम्यदेव शर्मा

परमार्थसतोऽप्यनुग्रहो वा

यदि वा निग्रह एक एव कार्यः

शिवस्तो० में सत्य भाव का साधक भक्त बिना किसी प्रकार की औपचारिकता को पूरा किये ही समावेश की परिपूर्ण एकता की प्राप्ति के प्रति अपूर्ण आकर्षण दिखायी पड़ता है।[1]

सहकारि न किञ्चिदिष्यते ।

भवतो न प्रतिबन्धकं तु किं।

भवतैव हि सर्वमावृतं ।

कथमद्यापि तथापि नेक्ष्यसे ।

समावेशात्मक दशा को प्राप्त करने के लिये भक्त कह उठता है।[2]

प्रकटय निजमध्वानं

स्थगयतरामखिललोकचरितानि ।

यावद्भवामि भवतः

स्वयं सपदि सदोदिते दासः ।।

स्वेच्छयैव भगवन्निजमार्गे

कारितः परमहं प्रभुणैव ।

तत्कथं जनवदेव चरामि ।

त्वत्पदोचितमवैमि न किंचित् ।।

इस प्रकार इन पदों में भक्त भगवान के प्रति मित्र का जैसा व्यवहार करता हुआ परमेश्वर के प्रकाशविमर्शात्मक स्वरूप का साक्षात्कार करने के लिये उत्सुक दिखाई पड़ता है।

- -

१- शिवस्तो० १२।१

२- वही ४।३, ११

-: पराभक्तिका स्वरूप :-

आचार्य उत्पलदेव की परा भक्ति तो उत्कृष्टतर अभेद विमर्शरूपी भक्ति है। पराभक्ति भूमिका मे ठहरा हुआ भक्त सदैव भक्ति अमृत रस का पान करके स्वयं ही असाधारण स्वरूप वाले होकर परमेश्वर के प्रकाश विमर्शात्मक स्वरूप का सदा स्कार करने मे समर्थ होते है । ऐसे भक्ति की तुलना परमेश्वर के सिवा और किसी मे भी नही ~~की-और-चमत्कार-के चमत्कारसे-भक्त-बना-रहता-है-~~। कोजा सकती अर्थात वह तद्रूप ही हो जाता है।[१] ऐसे भक्तों की समस्त विकल्प वृत्तियां नष्ट हो जाती है। वे स सम्पूर्ण विश्व को परमेश्वरका ही स्वरूप समझते हुए भक्ति रसोदधि में मे अवगाहन करते हुए उत्कृष्ट कोटि के परमानन्दको प्राप्त करते रहते है:-

शान्तकल्लोलशीतात्मस्वादुभक्तिसुधाम्बुधौ ।

अलौकिक रसास्वादे सुस्थै: को नाम गण्यते।।

शिवस्तो० १।२१

उत्कृष्ट कोटि की इस भक्ति के साधक को अणिमादि आठों सिद्धियां तथा मोक्षादि सिद्धियां तो अनायास प्राप्त ही हो जाती है साथ ही भक्ति रस से परमानन्द की भी प्राप्ति भी होती रहती है ।[२] समावेशशाली ऐसे भक्त जन परमेश्वरके उत्कृष्टतर अभेदविमर्शमय स्वरूप का अनुभव रागद्वेषादि के व्यापारों में विचरण करते रहने पर भी करते रहते है। तात्पर्ययह हैकि ऐसे भक्तों को व्यवहार मे भी भेद प्रथन का शिकार नही होना पड़ता । यहीतो पराभक्तिका चमत्कार है ।

- -

१- स्वन्ति भक्ति पीयूषरसास व परोन्मुखा: ।
   अद्वितीया अपि सदा स्याद्वितीय अपि प्रभो ।। शिवस्तो० १।५

२- मादृशै : किं न चर्व्येत भवन्दक्ति महौषधि: ।।
   तादृशी भावन्यत या मोक्षाख्योऽप्यन्तरो रस: ।। वही १।२२

भक्ति के लिये परमेश्वर की अनुग्रह को ही प्रधान कारण निरूपित किया है।[१] इस सम्बन्ध में वे मलपरिपाक आदि साधनों को सामर्थ्यहीन बताया है।[१] इस विषय का विशेष स्पष्टीकरण अभिनव गुप्त ने मालिनी विजय वार्तिक १०१५ तन्त्रालोक खण्ड -८ आह्निक १३ में किया है।

आचार्य उत्पलदेव ने शिवस्तोत्रावलि में पराभक्ति के उस उत्कृष्टतम स्तर की बड़ी प्रशंसा की है। जिसके आवेश में व्यवहारदशा में भी परम-अद्वय का अनुभव होता है और भक्त उसके चमत्कार से पूर्ण आनन्दमयता का अनुभव करता है। ऐसा भक्त अन्तर्मुखी समाधि की अवस्था में परमात्म साक्षात्कार तो प्राप्त करता ही है। किन्तु शेष और आनुभाव की संकुचित अवस्था अर्थात व्युत्थान में भी परम अद्वय का अनुभव करता रहता है।[२] अर्थात स्वरूप साक्षात्कार प्राप्तकरता रहता है। परमेश्वर के स्वरूप का साक्षात्कार करने वाले ऐसे भक्तों की तृष्णा समाप्त हो जाती है, जिससे वे पारमार्थिक मस्ती से मस्तहोकर परिपूर्णस्वातन्त्र्य से निश्चिन्त होकर इस संसार में स्वेच्छा से भ्रमण करते रहते हैं। अर्थात वे जीवन मुक्त हो जाते हैं।[३]

- -

१- भक्ति स्वादेन यत्र तत्र
प्रवरर्ध्यक्लमस्य गोचरेषु ।
प्रभुतोऽप्यविलोऽहं एवं पुष्प-
ैर्हरिश्चापितुर: सदा भवेयम् ।। शिवस्तो० ।१२२५

१- भावन्मभविच्छेव दासस्तव जातोऽस्मि परमनात्र शक्ति: ।
कथमेष तथापि ववर्भीम्यं तव पश्यामि न जातु चित्रमेतत् ।। शिवस्तो० १२।२६

२- नाथ वेद्यताये केन न दृश्योऽस्त्येक:स्थित:।
वेद्यवेदक संक्षोभेऽप्यसि भक्तैः सुदर्शन:।। शिवस्तो० १।८

३- साक्षात्कृत भवद्रूपप्रभुता भूतवर्जिता:।
उन्मीलित नु क्रीडां भवा विचरन्तियथारुचि ।। वही १२।४

अत: कहा जा सकता है कि आचार्य उत्पलदेव की उत्कृष्ट भक्ति तो कर्म और साधना की अपेक्षा अपने भीतर शिवभाव के समावेश को अधिक महत्त्व देता है। प्रेम के अतिशय में वह यही चाहता है कि वह परमेश्वर में समावेश को प्राप्त करे और समावेश को प्राप्त करके निरन्तर परमेश्वर की भक्ति में ही तल्लीन रहे।[१] इस प्रकार प्रेम की इस अतिशयता में समावेश चमत्कार से साधक का संकुचित जीव भाव (उपासकभाव) अपरिमित शिवभाव (उपास्य भाव) में मिलकर एक हो जाता है। जीव भाव की परिमितता अपरिमितता में परिणत हो जाती है और शेष एक परिपूर्ण अपरिमित और शुद्ध शिवभाव ही चमकता हुआ साक्षात्कार का लक्ष्य बनता है। इसी भक्ति को उन्होंने ज्ञान और योग की सर्वोत्कृष्ट दशा कहा है।

ज्ञानस्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा ।
त्वद्भक्तिर्या विभो करहि पूर्णामे स्यात्तदर्थित ।। शिवस्तो० १।१८

समावेशमयी भक्ति के प्राप्त होते ही परमेश्वर के साथ परिपूर्ण एकात्मता स्थापित हो जाती है और एकात्मकता के होने से भक्त को फिर किसी भी अन्य सिद्धि को प्राप्त करने की अभिलाषा उसी प्रकार नहीं रह

- -

१- त्वद्समाविश मामथाविशेषं सतत नाथ भवन्तमप्यहं यस्मात् ।
रभसेन वपुस्तवैव साक्षात्परमार्थचिन्तनत: समर्चयेयम् । वही १८।२०

है जाती जिस प्रकार दुग्ध की पर्याप्त मात्रा उपलब्ध होने पर दधि, घृतादि की इच्छा नहीं होती क्योंकि वे सब उसी दुग्ध के ही विकार है।[1]

तात्पर्य यह है कि जब परमेश्वर के प्रकाश विमर्शात्मक स्वरूप का साक्षात्कार हो जायेगा। तो फिर मोक्षादि की इच्छा के उठने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि ये सब उसी परमेश्वर के ही विलास है। भक्ति रसामृत सिन्धु के प्रणेता रूप गोस्वामी का भी यही मत है कि कृष्ण अर्थात परमेश्वर के चरणों में लगे हुए भक्त को मोक्षादि की इच्छा नहीं होती।[2] किन्तु दोनों आचार्यों में भेद यही है। कि उत्पलदेव की पराद्वैत दृष्टि में जब कि रूप गोस्वामी की द्वैताद्वैत दृष्टि थी।

पराभक्त

आचार्य उत्पलदेव

परा भक्ति के स्वरूप के विवेचन के अनन्तर हमें आचार्य उत्पलदेव की भक्ति में मुख्यतया तीन भावों की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है।

क- दास्य भाव

ख- सख्य भाव

ग- माधुर्य भाव

क:- दास्यभाव: -

दास्यभाव नवधा भक्ति का एक अंग है। शिवस्तोत्रावलि में हमें स्थान स्थान

- -

१- चक्रार्थ: पुरीभावो प्राप्य त्वद्भक्तिसम्पदि।
   दध्येः दुग्धमहाकुम्भे हता दधीनि गृध्नुता।। शिवस्तो० १५।१२

२- श्री कृष्ण चरणाम्भोजसेवानिवृ ति चेतसाम्।
   एषां मोक्षाय भक्तानां न कदाचिपि स्पृहा भवेत्।। भक्तिरसामृत सिन्धु
                                                   पूर्वविभागलहरी १३

३- न किल पश्यति सत्यमयं जन
   स्तव वपुर्द्वयदृष्टिमलीमस:।
   तदापि सर्वविदाश्रित वत्सल:
   किमिममार्तिं न शृणोषि मे।। वही ४।१६

पर इसके दर्शन होते हैं। दास्य भाव में भक्त स्वयं को लघु, अधम, और भगवान को पतितपावन, दयालु इत्यादि गुणों से विभूषित करते हुए अपने उद्धार की प्रार्थना करता है। वह कहता है कि हे भक्त वत्सल प्रभु मैं अपनी अज्ञानता के कारण से अब तक तो बन्धन में फंसा रहा, किन्तु अब मुझे मेरे अवगुणों में ध्यान न देते हुए कृपा करके भक्ति प्रदान करो। भक्त सूरदास के सूरसागर में भी एक स्थल पर दास्य भाव का यही रूप दृष्टिगोचर होता है।

प्रभु मोरे अवगुन चित न धरौं
समदरसी है नाम तिहारो, चाहौ तो पार करौं।

आचार्य रूपगोस्वामीने भी प्रभु को शरणागत पालक, दयालु आदि गुणों से समन्वित करते हुए दास्य भाव की प्रतिष्ठा की है।

ज्वर परिहर विज्ञातं त्वमत्र समरे कृतापराधोऽपि।
यत: प्रपद्यमाने यदिन्द्रपति यादवेन्द्रोऽयम्। भक्ति रसामृत सिन्धु

इस उद्धरण में भक्त प्रभु के प्रति अत्यधिक श्रद्धा से समन्वित परि-लक्षित होता है अत: रूप गोस्वामी के अनुसार यह दास्य भाव के सेवास्य भक्ति के अन्तर्गत आता है। किन्तु आचार्य उत्पलदेव का दास्य भाव आचार्य रूप गोस्वामी के दास्यभाव से उत्कृष्ट है क्योंकि उनके दास्यभाव की भक्ति में सर्वत्र अभेद विमर्श की ही प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। ऐसे भक्त का परमेश्वर त्रिलोकी का स्वामी है।[1] किसी स्तोत्र विशेष

- -

१- अस्ति मे प्रभुरशेषजगत्यां
त्र्यम्बको अथ जननी च भवानी।
न द्वितीय इह कोऽपि ममास्ती।
त्येव निर्वितमो विचरे प्रभु।। शिवस्तो० १३।१७

सदैव उत्सुक दैन्यादि के प्रदर्शन के बिना ही अभेद प्राप्ति का सदैव उत्सुक बना रहता है। ऐसा भक्त इस संसार को भार स्वरूप एवं नाना-विध कष्टों का घर समझता हुआ परा प्रेम के द्वारा परमशिव के शक्तिपात के माध्यम से परमअद्वय स्वरूप के लिये लालायित बना रहता है।[1] उसकी यह प्रेममयी दृष्टि एवं प्रभु के प्रति निष्कपट प्रेम भक्त को अभेद के सर्वोच्च शिखर पर ले जाती है। इस भाव में भक्त भगवान के अनुग्रह की अधिक वृद्धि को अपना अधिकारी जैसा समझता हुआ उसके लिये हट का प्रदर्शन करता है। आचार्य उत्पलदेव के मतानुसार जहाँ प्रभु के प्रति निष्कपट प्रेम है, वहाँ घबड़ाने की आवश्यकता नहीं। परमेश्वर को सर्वस्व सदा स्वरूप मानकर उसी के अनुग्रह से समावेश में स्वरूप साक्षात्कार रूपी महान समृद्धियों को प्राप्त करके परमानन्द प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे साधक भक्तको उस उत्कृष्ट शाक्त पद पर पहुँचने के लिये उच्चार करणादि उपायों की अपेक्षा नहीं होती। आचार्य रूपगोस्वामी ने भी सत्यभाव में स्थित साधक के लिये परमेश्वर की प्राप्ति के लिये विधिविहित उपायों की अपेक्षा श्रद्धा और प्रेम पर ही बल दिया है।

रागानुगाहृतावर्त्यं स्वाद्विधिमार्गानपेक्षणात्।
मार्गो क्षेन वैधेन साध्या सत्यरतिर्मता ।। भक्ति रसामृत सिन्धु पेज ९८

- -

१- संसाराध्वा सुदूरः खरतरविविधव्याधिदग्धाङ्गयष्टिः
भोगा नैवोपभुक्तायदपि सुखमभूज्जातुचन्मे चिराय।
इत्थं व्यथोऽस्मि जातः शशिधर चरणाक्रान्तिक्रान्तोऽपमार्ग।
त्वद्भक्तेरेवेति कस्मै कुरु सपदि महासम्पदोऽभेदभावी:।। शिवस्तो० १५।२६

२- स्वामिसौधमभिसन्धिमात्रतो निर्विकल्पमभिकम्य सर्वदा।
स्वां प्रसादपरमामृतासवं पाने के परितव्यानिवति:।। शिवस्तो० १३।१३

किन्तु आचार्य उत्पलदेव का सख्य भाव का भक्त परमेश्वर के साथ सख्य भाव से उसकी लीलाओं को ही नहीं देखता। बल्कि उसके प्रकाश विमर्शात्मक स्वरूप के साक्षात्कार के अनन्तर जब वह परिपूर्ण ऐक्य स्थापित कर लेता है तो वह स्वयं भी परिपूर्ण स्वातन्त्र्य से युक्त होकर उन सभी लीलाओं को स्वयं भी चलाने लगता है। समावेशमयी भक्ति का यह चमत्कार हमें सूर एवं चैतन्य सम्प्रदाय की भक्ति साधना में नहीं दिखाई पड़ता। शिवस्तोत्रावलि का प्रेमी भक्त तो परमेश्वर के प्रति परम प्रेम से युक्त होने के अनन्तर मोक्षादि सिद्धियों को तुच्छ समझने लगता है। वह अनन्य भाव से सदैव उसी के साथ संयुक्त रहकर ही समावेशात्मक आनन्द को लूटने का इच्छुक बना रहता है।[1] भक्ति भाव की यही सर्वोत्कृष्टता है। तात्पर्य यह है कि ऐसा भक्त भक्ति के सिवा अन्य ज्ञानादि मार्गों के द्वारा प्राप्त होने वाली मुक्ति आदि को बिलकुल नहीं चाहता। वह परमेश्वर के साथ बन्धुवत् आचरण करता हुआ भक्ति के प्रभाव में सदैव उस परमेश्वर के विमर्शात्मक स्वरूप का साक्षात्कार करना श्रेयस्कर समझता है। आनन्द संहिता में भी परमेश्वर के प्रति बन्धुवाद भाव का विवेचन मिलता है किन्तु यह आचार्य उत्पलदेव के भाव से भिन्न है। आनन्द संहिता में निर्दिष्ट किया गया साधक भक्त परमेश्वर को मनुष्य की भांति समझता हुआ ही आचरण करता है।[2] जब कि उत्पलदेव का भक्त परमेश्वर को चिद् चिदानन्द स्वरूप समझता हुआ अभेदात्मक परम प्रेम के द्वारा उसके साथ मित्र-भाव स्थापित करके परिपूर्ण अभेद की प्राप्ति का इच्छुक बना रहता है।

- -

१- तुच्छकं चैव सिद्धेश मेव तुच्छ्येय चापि तु ।
स्वादिष्ठपरकाष्ठात्वद्भक्ति रसनिर्भरः ।। शिवस्तो० १६।४

२- परिचर्यापरा: केचित्प्रासादेषु वसेरते ।
मनुष्यमिव तं द्रष्टुं व्यवहर्तुं च बन्धुवत् ।। भक्तिरसामृतसिन्धुपे० ६८

नायक होता है।[1]

उन्वा मन न कौ दसवीस ।
एक हुतो रच्यो गयो स्याम संग को आराधे ईस ।।

इस प्रकार भक्त सूरदासने माधुर्यभाव में स्त्री भाव की प्रधानता दी है। कृष्ण के प्रतिगोपियों का आकर्षण ऐन्द्रिय है अत: उनको प्रीति कामरूपा है, जबकि आ० उत्पलदेव की माधुर्य भक्ति सम्बन्ध रूपा है। शिवस्तो० के अनुसार भक्त के सम्पूर्ण सम्बन्ध परमेश्वर से हो होते हैं। वह पराप्रेम के प्रवाह मे परमेश्वर के साथ उसी प्रकार अभिन्न रूप से सम्पृक्त होना चाहता है। जिस प्रकार सांसारिक क्रीड़ा करने मे परमेश्वर को पराशक्ति उससे सदैव सम्पृक्त रहती है।[2] उत्पलदेव ने भक्ति के भीतर माधुर्यभाव को लाने के लिये अनेकों स्थलों पर विशेषण माहात्म्य से और लिंग माहात्म्य से अपने ऊपर नायिका का और परमेश्वर के ऊपर नायक का आरोप करते हुए समासोक्ति के माध्यम से कामात्मक प्रेम भाव को अभिव्यक्त किया है। जैसे[3]

ईश्वर मभ्युदारं
पूर्णमकारणमपहुँतात्मानम्
सहसाभिज्ञाय कदा
स्वामिनं लज्जयिष्यामि ।

- -

१- सूरसागर ।
२- अनन्तानन्दसरसी देवी प्रियतमा यथा।
अवियुक्तास्ति ते तद्वेका त्वद्भक्तरूप तु मे ।। शिवस्तो० १।६
३- शिवस्तो० ६।६,७

कदा कामपि तां नाथ

तव वल्लभतामियाम् ।

यया मां प्रति न क्वापि

युक्तं ते स्यादुपेक्षितुम् ॥

आचार्य उत्पलदेव की दास्य सख्य एवं माधुर्य भाव प्रधान भक्ति के विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी भक्ति में सर्वत्र अभेद विमर्श की प्रधानता है उसमें भेद का एक अंश भी नहीं परिलक्षित होता। भक्त सदैव अभेदोन्मुख बना रहता है वह भेद में रहते हुए भी सदैव अभेद साधना के लिये प्रयत्नशील रहता है। अतः उनकी भक्ति वैष्णवों के चैतन्य सम्प्रदाय एवं पांचरात्र सम्प्रदाय से भिन्न है। क्योंकि इन सम्प्रदायों में भेदाभेद या द्वैताद्वैत परिलक्षित होता है। अतः उत्पलदेव का भक्त अभेदविमर्शात्मक स्थिति को प्राप्त करके सदैव आनन्द रस का आस्वादन करता रहता है। वह स्वयं असाधारण स्वरूप वाला हो जाता है।[1]

जयन्ति भक्तिपीयूष रसासवरसोन्मदाः ।

अद्वितीया अपि सदा त्वद्वितीया अपि प्रभो ॥

-------------------0000-------------------

-: भक्ति की महिमा :-

आचार्य उत्पलदेव ने शिवस्तोत्रावलि में भक्ति को मोक्ष एवं परमेश्वर प्राप्ति के सर्वोत्तम साधन के रूप में स्वीकार किया है। उन्होंने शिवस्तोत्रावली में भक्ति के चमत्कारिक महत्त्व का निरूपण करते हुए साधक के लिये इसे ज्ञान, योगादि मार्गों की अपेक्षा सरलतम मार्ग निरूपित किया है। विवेक चूडामणि में भी भक्ति को मोक्ष एवं स्वरूप साक्षात्कार का श्रेष्ठतम साधन माना गया है।[1]

आचार्य उत्पलदेव के अनुसार ज्ञान, योगादि की साधना में तो श्रवण मनन, एवं निदिध्यासनादि तथा प्रत्याहार ध्यान धारणादि नीरस और कठ साध्य है। किन्तु भक्ति तो सरस और सहज है।[2] परमेश्वर में मन को लगाकर उसकी अर्चना में प्रेम पूर्वक आने वाला सामान्य जन भी उसके अनुग्रह की वृद्धि का पात्र होता है। और अनुग्रह में तीव्रता के योग से उत्कृष्ट कोटि की समावेशात्मक भक्ति की प्राप्ति होती है। भगवान कृष्ण ने भी गीता में यही कहा है। परमेश्वर कृष्ण के अनुसार मुझ में मन को एकाग्र करके निरन्तर मेरे भजन में श्रद्धापूर्वक लगा हुआ साधक सम्पूर्ण योगियों में भी श्रेष्ठ योगी होता है।

- -

१- मोक्षसाधनसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी ।
   स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते ।। विवेक चूडामणि श्लोक३२

२- क - न ध्यायतो न जपतः स्याद्यस्याविधिपूर्वकम् ।
   एवमेव शिवाभासस्तं नुमो भक्तिशालिनम् ।। शिवस्तो० १।१

३- मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते ।
   श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ।।

~~तत्वपर्व-वह-हरि-अनुस्पन्दन-के-मतसे-निबुध-न-मुक्त~~

:- भक्ति और मुक्ति :-

हमारी प्राचीन भारतीय सांस्कृति परम्परा में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष कोपुरुषार्थ चतुष्टय के रूप में जाने जाते हैं।[1] इनमें मोक्ष को जीवनका परमलक्ष्य माना गयाहै।इसी कारण से प्रायः प्रत्येक भारतीयदर्शन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष का प्रतिपादन ही है। मनुस्मृतिकार भगवान मनु ने इसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुए कहा है।

> अधीत्य विधिवद्वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
> इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत ।। मनुस्मृति--

अर्थात वेदादि का विधिवत् अध्ययन करके धर्मानुसार पुत्रादि उत्पन्न करके मन को मोक्ष में लगाना चाहिए । इस प्रकार जीवन के परम लक्ष्य मोक्षको साधनाके रूप में ज्ञान, योग भक्ति को अपनाया गया है।

शिवस्तोत्रावलि में भी मोक्ष का प्रतिपादन किया गया है। किन्तु साधनाके परमलक्ष्य के रूपमें नहीं। इसमें मोक्ष के साधन मार्गों में ज्ञान, योग की अपेक्षा भक्ति को उत्कृष्ट स्थान दिया गया है । इसमें भक्ति साधना और साध्य दोनों ही रूपोंमें स्वीकार की गयी है। अतः आचार्य उत्पलदेव के अनुसार जीवनका परम लक्ष्य मुक्ति नहीं ~~भक्ति~~ बल्कि समावेश मयी भक्ति होहै। उनके अनुसार अणिमादि सिद्धियों से लेकर परमानन्ददायक मोक्ष तक की समस्त सिद्धियाँ समावेशमयीभक्ति के द्वारा ही स्वतः ही सिद्ध हो जातीहै। साथ ही भक्ति युक्त होकर शरीर में आत्म भाव से स्थित होकर परमानन्द की प्राप्ति

- -

१- दुःखार्थभिन्नं सुखं हि पुरुषार्थः धर्मार्थ काममोक्षाश्चत्वारः पुरुषार्थाः तत्र प्राधान्यतुलार्थं जीवनाभिलक्ष्य साधनी मकरन्दकलादोषवारिकी

भक्तिरसायन

वे परमानन्द प्राप्त करने वाले भक्त निरन्तर परमेश्वर में ही मन लगाये
हुए अपनी क्रिया भी भी करते रहते हैं । उनकी यह धारणा बन जाती
है । कि शिव शब्द के स्मरण मात्र से ही समस्त विषयों का आस्वादन
प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् उसे अणिमा आदि सिद्धियां सुलभ
होती जाती हैं ।[1] गीता में भी ऐसे ही भक्त को परमपद प्राप्त करनेवाला
निरूपित किया गया है। कृष्ण कहते हैं । कि हे अर्जुन! सब समय में निरन्तर
मेरा स्मरण कर और युद्ध भी कर । इस प्रकार मुझमें अर्पण किये
हुए मन, बुद्धि से युक्त होकर तू निःसन्देह मुझको ही प्राप्त होगा।[2]
अतः कहसकते हैं कि आचार्य उत्पलदेव ने तो अणिमादि की प्राप्ति के लिये
भगवद्गुणकीर्तन को प्रमुख माना तो है, परन्तु समावेश से प्राप्त
होने वाली परमानन्दात्मक स्थिति तो उससे बहुत उत्कृष्टतर ही है ।
भगवान शंकराचार्य भी अपना चर्पटपंजरिका में आचार्य उत्पलदेव के इस
मत का समर्थन करते हुए प्रतीत होते हैं। उन्होंने सांसारिक विषय,
वासनाओंमें आसक्त अज्ञानी प्राणियों को ज्ञान के प्रकाश की प्राप्ति के
लिये भगवत स्मरण पर बल दिये हुए कहा है कि हे अज्ञानी
तू सांसारिक बन्धनों से छूटने अथवा मुक्त होने के लिये गोविन्द का भजन कर,
गोविन्द का भजन कर भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते ।

चर्पट पंजरिका

यहाँ पर बार २ गोविन्द के भजन पर बल देकर उन्होंने भगवत्स्मरण को

१- शिवशब्दैकसन्नद्धा जिह्वाग्रे तिष्ठतः सदा ।
समस्तविषयास्वादा भवतोऽभिमताशिनाम् ।। शिवस्तो० १। २०

२- तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ।। गीता

याज्ञवल्क्य के अनुसार योग के द्वारा जीवात्मा और परमात्मा का मिलन माना गया है[1]। स्वामी शिवानन्द के शब्दों में योग वह विज्ञान है जो आत्मा को परमात्मा से एक करने का उपदेश देता है[2]। सम्पूर्णानन्द के शब्दों में साधना द्वारा चित्त को एकाग्र करके आत्मसाक्षात्-कार के जितने उपाय हैं वे सब योग के अन्तर्गत हैं[3]। इस प्रकार हम देखते हैं कि योग साधन भी है और साध्य भी योग की साधना से चित्त को एकाग्र करके जब परमेश्वर का ध्यान किया जाता है तो परमेश्वर की कृपा जब पर होती है उसके प्रसाद से माया का आवरण जीव पर से उठ जाता है। और इस प्रकार जीव परमात्मा का साक्षात्कार का पात्र बन जाता है।

वैसे तो सामान्य धारणा के अनुसार पतंजलि के अष्टांग योग को ही योग की संज्ञा दी जाती है। क्योंकि उस धारणा के अनुसार आसन, ध्यान प्राणायाम कोई महानुभाव आसन, ध्यान, प्राणायाम, धारणा, ध्यान समाधि के बिना ही साधक समाधि की अवस्था को प्राप्त कर लेता है, जिसे योगी यौगिक साधना के द्वारा प्राप्त करता है अतः वह यही हैं कि ईश्वर प्रणिधान के द्वारा सिद्धि पाने वाला कोई भी भी योगी ही है। वास्तव में दर्शन में जीव और परमेश्वर के एकत्व रूप मिलन को योग कहा गया है।

योगमेकत्वमित्याहुर्जीवात्मपरमात्मनोः।

(याज्ञ० स्मृ० -----)

योग के विस्तृत अर्थ में ज्ञान, कर्म और भक्ति तथा योग के ही अन्तर्गत

१- संयोगो योग इत्युक्तो जीवात्मपरमात्मनोः याज्ञवल्क्य

२- कुण्डलिनी योग, - शिवानन्द

३- सम्पूर्णानन्द - योगदर्शन पेज ३०

४- त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किंचित्करोति सः। गीता ४। २०

जाती है। गीता के छठे अध्याय में अंतःकरण निग्रह स्वरूप निष्ठ साधक को योगी कहा गया है।[1]

प्रत्येक प्रकार के साधक के लिये अन्तःकरण की शुद्धता आवश्यक होती है। और यह शुद्धता योग के द्वारा प्राप्त हो सकती है। अतः कहा जा सकता है कि योग की आधार शिला पर ही भक्ति का प्रासाद खड़ा होता है। योग की सहायता से भावुक भक्त अपना चित्त शुद्ध परमात्मा में लगाकर साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है। अतः यहाँ पर योग के विभिन्न प्रकारों का संक्षिप्त वर्णन आवश्यक है।

१- <u>गोरखनाथ सम्प्रदाय का हठयोग</u>

गोरखनाथ महायोगी थे। उनका आविर्भाव विक्रम संवत् की दसवीं शताब्दी में माना जाता है। गोरखनाथ का जीवन अत्यन्त महिमामय था। उनके जीवन में सिद्धान्तों एवं व्यवहारों का संतुलित समन्वय मिलता है। उनके ग्रन्थों पर दृष्टिपात करने से यह बात सुस्पष्ट हो जाती है। कि उन्होंने योगमार्ग को सुव्यवस्थित किया। उन्होंने जिस योग मार्ग का प्रतिपादन किया वह हठयोग के नाम से जाना जाता है।

हठयोग प्राणनिरोध साधना है। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति, नामक ग्रन्थ में हकार को सूर्य और ठकार को चन्द्र कहा गया है। इन दोनों के योग को हठयोग कहा गया है।[2] हठयोग प्रदीपिका के अनुसार सूर्य नाद पिंगला नाड़ी का और चन्द्र इड़ा नाड़ी का है। किन्तु ब्रह्मानन्द की व्याख्या इससे भिन्न है। उनके अनुसार सूर्य का अर्थ प्राण-वायु है और चन्द्र का अर्थ अपानवायु, प्राणायाम द्वारा इनका निरोध करना ही हठयोग है।[3]

१- यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।। गीता ६।१९

२- हकारः कीर्तितः सूर्यष्ठकारश्चन्द्र उच्यते।
सूर्याचन्द्रमसोर्योगाद् हठयोगो निगद्यते।। सिद्ध सिद्धान्त पद्धति हठयोग प्रदीपिका पृ० २

३- प्राणं सूर्येण चाकृष्य पूरयेदुदरं शनैः।
विधिवत् कुंभकं कृत्वा पुनश्चन्द्रेण रेचयेत्।। वही पृ० २८

४- अनाहत चक्र:-

हृदय में अनाहत नाम का सुनहरी कमल होता है। यह बारह दल का होता है। और इसके दलों पर क्रमशः क से लेकर ठ तक (क, ख, ग, घ ङ च, छ, ज झ, ञ ट ठ) बारह वर्ण स्थित हैं। यह कमल अरुण वर्ण का होता है। यहाँ पिनाकी नाम के सिद्ध देवता और काकिनी नाम की देवी का निवास होता है। जो योगी इस हृदय चक्र में स्थित होता है। वह भूत भविष्य एवं वर्तमान का ज्ञाता होता है।[1]

- -

५- विशुद्ध चक्र:-

कण्ठ स्थान विशुद्ध नाम का पंचम चक्र स्थित है यह विशुद्ध नाम कमल सोलह दल का है। यह धूम्र वर्ण का होता है। तथा इसके प्रत्येक दल पर क्रमशः सोलह स्वर। (अ, आ, इ ई, उ, ऊ, ऋ ॠ ए ऐ ओ औ और अं अः) स्थित हैं यहाँ[2] छागाण्ड नाम के सिद्ध देवता तथा शाकिनी नाम की देवी स्थित है।

६- आज्ञा चक्र:-

विशुद्ध चक्र के ऊपर आज्ञा चक्र है यह चक्र दोनों भौहों के बीच में स्थित है। इसको आज्ञा चक्र इसलिये कहते हैं क्योंकि यहाँपर पहुँचकर साधक बोध परम गुरु शिव से आज्ञा प्राप्त करता है इस कमल के दो दल हैं जिन पर ह और क्ष अक्षर स्थित हैं इस केन्द्र का तत्व मन है इसका प्रधान बीज ॐ है इसके देवता शंभु रूप परमात्मा एवं देवी हाकिनी

- -

१- वही पृ॰ १२६-१२७ २- शिवसंहिता पृ॰ १२४-१२५

सम्प्रज्ञात समाधिः-

सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास से समस्त राजस और तामस वृत्तियों का निरोध हो जाता है। केवल सात्विक वृत्ति का ही प्रकाश रहता है। इस समाधि की चार अवस्थायें होती हैं:-

वितर्कानुगत विचारानुगत आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत[1]

वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि की दशा में सूर्य चन्द्र शिव आदि देवताओं का ध्यान करते हुए चित्त को तन्मय किया जाता है।

विचारानुगत में स्थूल पदार्थों का साक्षात् करने के बाद सूक्ष्म पदार्थों में रूप, रस गन्ध शब्द स्पर्श की भावनात्मक विचार से समाधि होती है। आनन्दानुगत में साधक विचार शून्य होकर केवल आनन्द का अनुभव करता है। अस्मितानुगत में आनन्द भी नष्ट हो जाता है।[2]

असम्प्रज्ञात समाधि -

जिसकी पूर्वावस्था विराम प्रत्यय है तथा जिसमें चित्त की स्थायी संस्कार मात्र शेष रह जाते हैं वह दूसरी असम्प्रज्ञात समाधि है।[3] इस समाधि में चित्त और पुरुष में भिन्नता का विवेक ज्ञान होता है। इसे विराम प्रत्यय स्थायी कहते हैं। क्योंकि इसमें सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है।

इस प्रकार संक्षेप में पातञ्जलयोग की यही प्रक्रिया है किन्तु इस प्रक्रिया से यह योग अत्यधिक कष्ट साध्य एवं दीर्घकालीन साधना से ही सिद्ध होता है जो सामान्यतः साधक के लिये अनुकूल नहीं होता।

- -

सन्दर्भ :- १- वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः। योगसू० १।१७

२- योग सू० १।१७का भाष्य

३- विरामप्रत्ययाभ्यासपूर्वः संस्कारशेषोऽन्यः १।१८

भाग - २

साहित्यिक - अध्ययन

षष्ठ - अध्याय

भाग -२

साहित्यिक अध्ययन

स्तोत्र काव्य

अति प्राचीन काल से ही संस्कृत वाङ्मय में आध्यात्मिकता किसी न किसी रूप में विद्यमान रही है। इसका प्रमाण स्वयं अन्यान्य कवियों द्वारा रचित उनके काव्य ही हैं, जिन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनके इष्ट देवता कौन थे और उन देवताओं के प्रति उनकी कितनी प्रगाढ निष्ठा थी। प्रारम्भ में तो संस्कृत के इन कवियों की आध्यात्मिकता काव्यों के मङ्गलाचरण तक ही सीमित रही, किन्तु बाद में शनैः शनैः इस परम्परा का विकास अपनी चरम सीमा तक पहुँच गया और मात्र स्तुतिपरक गीतिकाव्यों की रचना होने लगी जिनको स्तोत्रों की संज्ञा से अभिहित किया गया और स्तोत्र साहित्य इतना समृद्ध हो गया कि काव्य के अन्य भेदों में से स्तोत्र काव्य की भी गणना की जाने लगी। स्तोत्रों की रचना में आत्म की विविध विषय वासनाओं से मुक्ति प्राप्ति के लिये कवियों ने दैन्य, सख्य, अर्चन, वन्दन इत्यादि विविध प्रकार के भावों का समावेश किया। मानव जीवन की सभी अवस्थाओं के समाधानार्थ लिखे जाने के कारण ही ये स्तोत्र ग्रन्थ जनमानस में सर्वाधिक महत्व प्राप्त किये। कवियों ने स्तोत्रों के माध्यम से यह स्पष्ट कर दिया कि जो कोई भी स्वाभाविक रीति से परमेश्वर की स्तुति करेगा वह निश्चित रूप से परमात्मा का साक्षात्कार करेगा[1]।

व्युत्पत्ति की दृष्टि से स्तोत्र शब्द "स्तूयतेऽनेनेति स्तोत्रं" तथा "दाम्नीशसयुयुज..." इस सूत्र से ष्ट्रन् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है।[2] वाचस्पत्य में "स्तवे गुणाख्यानादिभिः प्रशंसनेन" कहकर स्तोत्रों

१- भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप॥ गीता-११।५४

२- तैत्तिरीयसंहिता २।४। १४

स्तोत्रों को चतुर्विध निरूपित किया है।[1]

> द्रव्य- स्तोत्रं कर्मस्तोत्रं विधिस्तोत्रं तथैव च ।
> तथैवाभिजनस्तोत्रं, स्तोत्रमेतत् चतुष्टयम्।।

वैसे तो वैदिक काल से ही स्तोत्रों के प्रणयन की परम्परा प्रचलित थी किन्तु, स्वतन्त्र रूप से नहीं । ऋग्वेद , यजुर्वेद, अथर्ववेद महानारायणोपनिषद, मुण्डकोपनिषद, मार्कण्डेय पुराण, देवीभागवत, योगवाशिष्ठ हरिवंश पुराण, वाराहपुराण , शिवमहापुराण इत्यादि, वैदिक एवं पौराणिक ग्रन्थों में अनेकों देवी, देवताओं की स्तुतियों से सम्बंधित छन्द प्राप्त होते हैं ।[2]

लौकिक वाङ्मय में महाकवि कालिदास कृत ' श्यामलादण्डक, को प्राचीनतम् स्तोत्र, ग्रन्थ माना जाता है। इसी प्रकार अश्वघोष (प्रथम शताब्दी ई०) के ' गण्डीस्तोत्रगाथा, को भी प्राचीनतम् स्तोत्र काव्य के रूप में उद्धृत किया गया है।[3] अश्वघोष के बाद बौद्ध मातृचेट (१५० ई०) ने चतुःशतक, और अध्यर्धशतक नामक दो स्तुति काव्यों की रचना की।[4] पांचवीं शताब्दी में सिद्धसेन दिवाकर ने कल्याणमन्दिर, स्तोत्र ग्रन्थ की रचना की। इसी प्रकार राजा हर्ष ने सातवीं शताब्दी में बौद्ध धर्म से सम्बंधित ' सुप्रभातस्तोत्र, और अष्टमहाश्री चैत्य स्तोत्रों का प्रणयन किया। इसी परम्परा में बाणभट्ट ने(६००ई०) ने चण्डीशतक,

---

१- तैत्तिरीयसंहिता --२।४।१४

१- अष्टाध्यायी - ३।२।१८२

२- संस्कृते पंचदेवतास्तोत्राणि- सुरेन्द्रनारायण त्रिपाठी

३- वाचस्पति गैरोला - संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ९०८

४- बलदेव उपाध्याय - संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ०२० -२०३ (१९५८)

कुपुत्रो जायेत क्वचिदपि कुमाता न भवति ।।

यहाँ पर भक्त कहता है कि सबका उद्धार करने वाली हे कल्याणमयी माता! तुम्हारी पूजा की विधि न जानने के कारण, धन के अभाव में आलस्य से और उन विधियों को अच्छी तरह न कर सकने के कारण तुम्हारे चरणों की सेवा करने में भी भूल हुयी, उसे क्षमा करो क्योंकि पुत्र तो कुपुत्र हो जाता है, पर माता कुमाता नहीं होती।

प्रस्तुत उदाहरणों से स्पष्ट है कि इन स्तोत्रों में भक्तों को परमेश्वर में तल्लीन कर देने की पूर्ण सामर्थ्य है। ललित पदों के गायन द्वारा भक्त आत्मविभोर होकर परमानन्द की मस्ती में शनैः २ परिपूर्ण तन्मयता को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जायेगा। यही कारण है कि गेयात्मक शैली के स्तुतिपरक स्तोत्र जनमानस को अधिक प्रभावित किये।

सातवीं शताब्दी में केरलाधिपति कुलशेखर ने मुकुन्दमाला, की रचना की, जो वैष्णव स्तोत्रों में अत्यधिक लोकप्रिय हुआ उदाहरणार्थ

दिविवा भुविवा ममास्तु वासः
नरकेवा नरकान्तक प्रकामम् ।
अवधीरित शारदारविन्दौ
चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ।।[1]

प्रस्तुत प्रसंग में कवि स्वर्ग में नरक में पृथ्वी में कहीं कहीं भी वह रहे किन्तु प्रभु के चरणों में नहीं अनुरक्ति रखना चाहता है।

नवीं शताब्दी में रत्नाकर ने वक्रोक्तिपंचाशिका, की रचना की कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा के आश्रित कवि था, आनन्दवर्धन ने देवी

१- मुकुन्दमाला - ८

-र्तन किया। प्रत्यभिज्ञावादी उत्पलदेव ने शिवस्तोत्रावलि, का प्रणयन किया। इसमें २० विभिन्न स्तोत्रों का संग्रह है। यह शैवस्तोत्रों में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। शिवस्तोत्रों के स्तोत्रों में भगवान शंकर के अनन्तगुणों का वर्णन एवं भक्ति की महनीयता की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की गयी है। आ० उत्पलदेव की दृष्टि में भगवान शंकर से सम्पर्क रखने वाली तुच्छ वस्तुयें अत्यन्त उत्कृष्ट कोटि की होती है जैसा कि उन्होंने एक स्थल पर स्पष्ट किया है।

कण्ठकोणनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते ॥ शिवस्तो० १३-१६

(हे भगवान्! आपके कण्ठ के कोने में रखा गया कालकूट भी मेरे लिये महान् अमृत के समान पोषक तथा संजीवक है, परन्तु यदि आपके शरीर से पृथक् होकर रहने वाला अमृत भी मुझे नहीं रुचता। यहाँ पर भक्त कवि की भावुकता स्पष्ट रूपेण झलकती है। आ० उत्पलदेव के प्रशिष्य आ० अभिनवगुप्त ने ईश्वर स्तोत्र भैरवस्तोत्र का प्रणयन किया।

इसी प्रकार रामानुज के गुरु यामुनाचार्य ने चतुःश्लोकी एवं स्तोत्ररत्न, रामानुजाचार्य (११वीं शताब्दी) ने गद्यत्रय नाम से शरणागतिगद्य, वैकुण्ठगद्य एवं श्रीरंगगद्य लिखे। आ० रामानुज के शिष्य श्रीवत्साङ्क ने श्रीस्तव, अतिमानुषस्तव, वरदराजस्तव, सुन्दरबाहुस्तव, श्रीवैकुण्ठस्तव, की रचना किया। गीतगोविन्दकार जयदेव ने गीतगोविन्द की शैली में गंगास्तव, लिखा। मालाबार निवासी बिल्वमंगल ने कृष्णकर्णामृत, की रचना की।

१- ध्वन्यालोक (भूमिका) श्री राम प्रताप त्रिपाठी पृ०८

१२ वी शताब्दी में श्री० आनन्द तीर्थ ने द्वादशस्तोत्र लिखा ।

वेदान्तदेशिक, (१२६८-१३६९) ने लगभग २५ स्तोत्रपरक ग्रन्थों की रचना करके इस परम्परा को आगे बढ़ाने में महत्वपूर्ण योग दिया, उनके [illegible], पादुकासहस्र, गरुडदण्डक, रघुवीरगद्य आदि प्रमुख स्तोत्र ग्रन्थ हैं। १३ शताब्दी में रत्नधर के पुत्र जगद्धरभट्ट ने स्तुतिकुसुमाञ्जलि, की रचना की इसमें ३८ स्तोत्र और १४०० श्लोक हैं। इसमें कवि भक्ति भावना से ओतप्रोत अतिसुन्दर श्लेष एवं अनुप्रासादि अलंकारों एवं करुणा, शान्त आदि रसों का सुन्दर प्रयोग किया है इसमें कवि एक स्थल पर भगवान शंकर को उपालम्भ देता हुआ कहता है। कि हे महेश यमराज मुझे लेजाने को आगया है। आप मेरी रक्षा क्यों नहीं करते। मेरी इस दुर्दशा को देखकर आपके हृदय में करुणा भले ही कुछ न हो परन्तु मुझ जैसे शरणागत को छोड़ते हुए भी—क्या आपको लज्जा नहीं आती ।[1] इसी प्रकार एक अन्य स्थल पर भी कवि कह उठता है ।

स्वैरेव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यैः
तत्रापि नाथ तव नाऽलम्बमवलेपमाप्तुम्
कूपे पशुः पतित यः स्वयमन्धकूपे
नैतेन- नोपेक्षते तदपि कारुणिको हि लोकः
स्तुतिकुसुमाञ्जलि -११।३८

१- आः किं न रक्षसि यमस्यमन्तकाले मां
लेजाकले पतन्ता किमयं महेश ।
या नाम भूत करुणाऽपि हृदयस्य पीडा
त्राताऽपि नास्ति शरणागतमुज्झतस्ते ।।
स्तुतिकुसुमाञ्जलि ।

पण्डितराजजगन्नाथ (१५९०-१६६५ई० के बीच) सुधालहरी, अमृतलहरी, लक्ष्मीलहरी, करुणालहरी, और गंगालहरी, आदि उच्चकोटि की गीतकृतियोंकी रचना की। इसके अनन्तर नीलकण्ठ दीक्षित(१७वीं शताब्दी) ने आनन्दसागरस्तव, और शिवोत्कर्षमञ्जरी, का प्रणयन किया।

स्तोत्रोंके प्रणयन की इसी परम्परा में वेंकटाध्वरी (१७वीं शताब्दी)ने लक्ष्मी सहस्त्र, राम भद्रदीक्षित ने राम की स्तुति में १० गीतिकाव्य रच डाले जिनमे रामस्तव, और अद्भुत सीतारामस्तव, आदि प्रमुख है। उन्नीसवीं शताब्दी मे त्यागराज, श्यामशास्त्री, तथा मुत्तुस्वामी दीक्षित ने स्तोत्र काव्योंको समृद्ध करने में महत्वपूर्णयोगदान किया।

जैन तथा बौद्ध विद्वानों ने भी स्तोत्र ग्रन्थों का प्रणयन किया था। कुछ उच्च कोटि के जैन स्तोत्रों मे वादिराजकृत एकीभाव स्तोत्र, सोमप्रभ की सूक्तिमुक्तावली, जम्बूगुरु का जिनशतक, आचार्य हेमचन्द्र की अन्ययोगव्यवच्छेदिका- द्वात्रिंशिका प्रमुख है। बौद्ध स्तोत्रों मे शून्यवादी आचार्य नागार्जुन के चतुःस्तव, अत्यधिक प्रसिद्ध है।

<u>स्तोत्रकाव्यों के प्रकार</u>

वर्गीकरण की दृष्टि से स्तोत्र साहित्य को वैदिक, तान्त्रिक, पौराणिक, पुजोपयोगी, दार्शनिक, रहस्यसाधनोपयोगी, भक्तिप्रधान, कवित्वप्रधान, विष्णुस्तोत्र देवीस्तोत्र शिवस्तोत्र इत्यादि प्रमुख भागों मे वर्गीकतकिया जा सकता है।

उपरोक्त प्रकारों मे से यहाँपर स्तोत्रों के दार्शनिक एवं भक्ति प्रधान पक्षों का ही विवेचन अभीष्ट है क्योंकि शिवस्तो० भक्ति भावना से ओतप्रोत एवं उच्चकोटि का दार्शनिक स्तोत्र ग्रन्थ है। इसी का० उत्पलदेव

ने काश्मीर शैव दर्शन के गूढतम सिद्धान्तों को सुन्दर पद्यमयी शैली में प्रकट किया है। इसी प्रकार की परम्परा का अनुसरण अन्य स्तोत्रकारों ने भी किया है। उदाहरणार्थ आ० शंकर, यामुनवल्लभ, रामानुज, एवं रामानन्द इत्यादि आचार्यों का नामोल्लेख किया जा सकता है। यहाँ पर संक्षेप में इन आचार्यों के स्तोत्रों से प्राप्त होने वाले तत्सम्बन्धी सम्प्रदायों के दार्शनिक तत्वों का सूक्ष्म विवेचन करने के अनन्तर शिवस्तो० प्रासंगिक विवेचन अप्रासंगिक न होगा।

१- <u>आचार्य शंकरका अद्वैतवाद:-</u>

अद्वैताचार्य शंकर ने लगभग २०० स्तोत्रों का प्रणयन किया जिनमें से ७४ स्तोत्र ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं।[1] आ० शंकर के स्तोत्रों में दृष्टिपात करने से उनके महत्वपूर्ण दार्शनिक सिद्धान्त सुस्पष्टतया परिलक्षित होते हैं। उदाहरण के लिये गणेशाष्टक, के छन्द को प्रस्तुत किया जा सकता है जिसमें उन्होंने निर्गुण निर्विकार, निर्विकल्पक ब्रह्म को जगत् का एकमात्र कारण निरूपित करते हुए परिपूर्ण अद्वैत की स्थापना की है।[2]

> यतोऽनन्त शक्तेरनन्ताश्च जीवाः यतो निर्गुणादप्रमेयाः गुणास्ते।
> यतो भाति सर्वं त्रिधा भेद भिन्नं, सदा तं गणेशं नमामो भजामः
> यतो विघ्नराशिः क्षयं याति सद्यो, यतो मोक्षलाभं लभन्ते ... । [illegible]
> परब्रह्म रूपं चिदानन्द भूतं सदा तं गणेशं नमामो भजामः ।।

यहाँ पर गणेश और ब्रह्म में अद्वयात्मकता दीखनी चाहिए।

इसी प्रकार जगत् को भ्रम निरूपित करते हुए शंकराचार्य ने धीरेश्वर स्तोत्र में कहा है।[3]

1- शंकर का मायावाद - डा० राम मूर्ति, रचना प्रकरण
2- गणेशाष्टक - १।७
3- बृहत्स्तोत्ररत्नाकर पृ० ५७ श्लोक ३

रज्जौ सर्पः शुक्तिकायाँ च रौप्यं,
पयः पूरस्तन्मृगाख्यमरीचौ, ।
यद्वत्तद्विश्वमेव प्रपंचो,
यस्मिंज्ञाते तं प्रपद्ये महेशम् ॥

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्तः-

विशिष्टाद्वैत के अनुसार चेतनाचेतन विशिष्ट ब्रह्म एक ही है। उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि परमात्मा एक है और वह जगत् में व्याप्त है।[1] उन्होंने तत्वमसि महावाक्य में तत्व त्वमिति, विच्छेद के द्वारा जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव प्रतिपादित किया है। यामुनाचार्य ने इसी सिद्धान्तको स्वरचित स्तोत्र में इसप्रकार प्रतिपादित किया है।

न धर्मनिष्ठो न चात्मवेदी, न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे ।
अकिंचनोऽनन्यगतिः शरण्यं त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥ १
न निन्दितं कर्म तदस्ति लोके, सहस्रशो यन्न मया व्यधायि ।
सोऽहं विपाकावसरे मुकुन्द, क्रन्दामि सम्प्रत्यगतिस्तवाग्रे ॥ २
अभूतपूर्वं मम भावि किं वा, सर्वं सहे मे सहजं हि दुःखम् ।
किन्तु त्वदग्रे शरणागतानां, पराभवो देव न तेऽनुरूपः ॥ ३
ननु प्रपन्नः सकृदेव नाथ, तवाहमस्मीति च याचमानः ।
तवानुकम्प्यः स्मरतः प्रतिज्ञां मदेकवर्जं किमिति व्रतं ते ॥ ४[2]

यामुनाचार्य के मत में परमेश्वर की शरणा में जाकर भक्तिभावसे प्रभु से प्रार्थना करने पर सद्गति (मोक्ष) की प्राप्ति होती है जैसाकि एक स्थल पर उन्होंने कहा है।[3]

१- एम० हिरियन्ना भारतीय दर्शन की रूपरेखा - पृ० ३८०-३८१
२- स्तोत्ररत्न (यामुनाचार्य) १८-२२
३- हिन्दुत्व पृ० ६१६, रामदास गौड़।

पितरंश्च मातरंश्च दारांश्च पुत्रान्बन्धून्सखीन्गुरून् ।
रत्नानि धन धान्यानि क्षेत्राणि च गृहाणि च ।। १
सर्वधर्मांश्च संत्यज्य, सर्वकामांश्च साक्षरान् ।
लोकविक्रान्त चरणौ, शरणं तेऽव्रजं विभो ।। २

द्वैताद्वैतवाद:-

श्री निम्बार्काचार्य ने द्वैताद्वैतभेदाभेद वाद की प्रतिष्ठा की। इसके प्रमुख सिद्धान्त उनके स्तोत्रों में प्राप्त होते है। जैसे-

ज्ञानस्वरूपं च हरेरधीनम् शरीरसंयोगवियोगयोग्यम् ।
अणुं हि जीवं प्रतिदेहभिन्नम् ज्ञातृत्ववन्तं यदनन्तमाहु: ।।

रामानन्द सम्प्रदाय:-

इस सम्प्रदाय के अनुसार विशिष्टातिविशिष्ट भगवान राम को ही परब्रह्म मानना[2] चाहिए। नरहरिदास के स्तोत्रों में यह सम्प्रदाय दर्शनीय है।

यो विद्याकारी धाता, परम सुखद: पावनतनु: ।
मुनीन्द्रैर्योगीन्द्रैर्यतिपतिसुरेन्द्रैरनुमत: ।।
सदा सेव्य: पूर्णो जनकतनयांगस्सुभगुक
रमानाथो रामो रमतु मम चित्ते तु सततम् ।।

न्यायदर्शन:-[3]

वेदान्तवादियों के स्तोत्रों में पदे पदे अन्य दार्शनिक पक्ष भी उपलब्ध है।

१- वही पृ० ४३१ (निम्बार्काचार्यविरचित)
२- बृहत्स्तोत्ररत्नाकर श्री रामचन्द्राष्टक के पृ० १८८

जैसा कि शिवमहिम्न स्तोत्र में न्यायदर्शन की अभिव्यक्ति हुई है[1]।

किमीहः किंकायः सखलु किमुपायस्त्रिभुवनम् ।
किमाधारो धाता सृजति किमुपादान इति च
अतर्क्यैश्वर्यं त्वय्यनवसर दुःस्थो हतधियः
कुतर्कोऽयं कांश्चिन्मुखरयति मोहाय जगताम् ।। १
अजन्मानो लोकाः किमवयवन्तोऽपि जगताम्
अधिष्ठातारं किं भवविधिरनादृत्य भवति ।
अनीशो वा कुर्याद्भुवनजनने कः परिकरः ,
यतोमन्दास्त्वां प्रत्यमरवर संशेरत इमे ।। २

यहां पर अनुमान के द्वारा ईश्वर सिद्धि की गयी है ।

सांख्य दर्शनः-

स्तोत्रार्णव में उल्लिखित नमो मूलप्रकृत्यै नित्याय परमात्मने[2]।
है स्तोत्रों में सांख्य दर्शन की प्रतिष्ठा की ओर संकेत मिलता है ।

योगःदर्शन

स्तोत्रों में योग दर्शन भी प्रतिष्ठित हुआ है।
जैसा कि एक छन्द से स्पष्ट होता है[3]।

नोद्घाटयति कपाटं स्वाङ्गावेशेन विना प्रवेशाय ।
तद्वन्नोद्घाटयति स्वाधिष्ठानादि निज कपाटानि ।। १
सर्वे शरीरि शरीर मूलाधारस्थितापि कुण्डलिनी।
वायुत्थलवधिराद् मुग्धाण्डिकापिन्निमुखसंभेर्यां ।। २

- -

१- शिवमहिम्नस्तोत्र ५-६
२- स्तोत्रार्णवः पृ० ३४२
३- वही (गणेशपुष्टिकम) पृ० ६१७

काश्मीर शैव दर्शन:-

काश्मीर शैव दर्शन के प्रवर्तक एवं उसके प्रमुख सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन पीछे के अध्यायों में किया जा चुका है। जहाँ तक स्तोत्रों में इस दर्शन के सिद्धान्तों की अभिव्यक्ति का प्रश्न है, वह आगे स्पष्ट किया जा रहा है।

काश्मीर शैव दर्शन पराद्वैत दर्शन है जिसमें एक मात्र परमशिव ही सर्वोच्च सत्ता है। सम्पूर्ण स्थावर जंगम जगत् उसी की लीला का विलास है। शिवस्तो० में आचार्य उत्पलदेव ने कहा है।[1]

सदा सृष्टि विनोदाय सदा स्थिति सुखासिने
सदा त्रिभुवनाहारतृप्ताय स्वामिने नमः

काश्मीर शैव दर्शन के अनुसार समावेश में परमेश्वर का साक्षात्कार कर लेने वाले साधक वेदान्तादि दर्शन आचार्यों की भाँति जगत् को भ्रम दुःख का कारण न समझते हुए उसे परमानन्दात्मक ही समझते हैं। समावेश में स्वरूप साक्षात्कार कर लेने के अनन्तर वे सभी जगत् को भगवान का वास्तव-मान स्वरूप समझते हुए सभी लौकिक कार्यों को करते हुए भी परमशिव के साक्षात्कार का लाभ प्राप्त करते हैं। जैसा कि आ० उत्पलदेव ने कहा है।[2]

न क्वापि गत्वा हित्वापि न किंचिदिदमेव ये।
सर्वं त्वद्धाम पश्यन्ति भव्यास्तेभ्यो नमो नमः ॥

(हे स्वामी ! जो भाग्यशाली भक्तजन किसी विशेष धारणा ध्यान आदि

- -

१- शिवस्तो० २०।१९

२- शिवस्तो० २०।१०

स्थान को न जाकर हानादानादि किसी भी क्रिया का बिना त्याग किये ही इस संसार में ही मोक्ष प्राप्ति का साधन समझते हैं उन अलौकिक भक्तों को मैं नमस्कार करता हूं।

आ० उत्पलदेवने शिवस्तो० की रचना करके काश्मीर शैवदर्शन की साधना को एक नयी दिशा प्रदान की। भक्ति के माध्यम से अद्वैतता की परामूमि पर साधक को प्रतिष्ठित करना आ० उत्पलदेव की कविदार्शनिक की कलाकारी का परिचायक है। साधना के ज्ञानयोगादि मार्गों की उपेक्षा करके भक्ति के द्वारा उन्होंने प्राणिमात्र के लिये मोक्ष की सरलतम पद्धति प्रतिपादित कीऔर स्वयं भी भक्ति की मस्ती में झूमतेरहे। उन्होंने स्पष्ट कहा हैकि भक्ति[1] रूपी लक्ष्मी से सम्पन्न साधक के लिये कोई भी वस्तु अपेक्षित नहीहोती।-

भक्ति लक्ष्मी समृद्धानां किमन्यदुपयाचितम् ।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदुप याचितम् ।।

आ० उत्पलदेव के प्रशिष्य आ० अभिनवगुप्त ने भी अपने ईश्वर स्तोत्र में एक स्थल पर परमेश्वरकी सम्पूर्ण शक्तियों का स्वरूप निरूपित करतेहुए काश्मीर शैवदर्शन के पराद्वैत सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की है।
वसंतकं भांप्रति भा दृशमैनां कोपकराळतमां विनिबोहि
शंकर चिन्तन सैवन धीरा भीषणा भैरव शक्तिमयोऽस्मि

शिवस्तो० और स्तुतिकुसुमाञ्जलि

शिवस्तो० और स्तुतिकुसुमाञ्जलि दोनों का ही स्तोत्र साहित्य में अपना

---

१० शिवस्तो० २०।११

महत्वपूर्ण स्थान है। वा दोनों ही काश्मीर के प्रसिद्ध आचार्यों की कृति है एक के रचयिता आ० उत्पलदेव जो महान दार्शनिक कवि हैं तो दूसरी के जगद्धरभट्ट जो श्रेष्ठ भक्त कवि। तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर शिवस्तो० और स्तुतिकुसुमाञ्जलि दोनों ही स्तोत्र ग्रन्थ संस्कृत वाङ्मय में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। पीछे के अध्यायों के विवेचन से यह तथ्य निर्विवाद रूप से सिद्ध हो गया है। कि शिवस्तो० में जहाँ एक ओर काश्मीर शैव दर्शन के स्वातन्त्र्य सिद्धान्त, स्पन्द सिद्धान्त, सृष्टिसंहार, बन्धन मोक्ष शाम्भवयोग इत्यादि प्रमुख सिद्धान्तों के महत्वपूर्ण तथ्य विद्यमान हैं। वहीं दूसरी ओर उसमें उत्कृष्ट कोटि की काव्यात्मकता भी है। और यह ठीक भी है क्योंकि शिवस्तो० काश्मीर शैव दर्शन के आधार स्तम्भ आ० उत्पलदेव की कृति है। आधार स्तम्भ आ० उत्पलदेव की कृति है अतः उसमें मुख्यतया इस दर्शन के सिद्धान्तों का प्रतिपादन होना ही चाहिए।

इस दृष्टि से स्तुतिकुसुमाञ्जलि को देखने पर यह निष्कर्ष लिया जा सकता है कि यह स्तोत्र ग्रन्थ विशिष्ट काव्य सौन्दर्य से भले ही समन्वित हो किन्तु दार्शनिक दृष्टि में यह शिवस्तो० की समता नहीं कर सकता हाँ इतना अवश्य है कि स्तुतिकुसुमाञ्जलि में शिवस्तो० की ही भाँति भक्ति को सर्वोच्च स्थान प्राप्त हुआ है। इस सम्बन्ध में यदि यह कहा जाय कि कविवर जगद्धरभट्ट आ० उत्पलदेव से प्रभावित थे, तो अनुचित न होगा। कवि ने ऐसे प्रभावोत्पादक और हृदय स्पर्शक ढंग से भगवान् शंकर से प्रार्थना की है कि कठिन हृदय व्यक्तियों का भी चित्त पवित्र भाव से आर्द्र हो जाता

१- शान्तं मनो यदि यमैर्नियमैः किमन्यैः,
वशिता यदि प्रियहितास्तुतिः चाटुभिः किम्।
काव्यपठितं यदि किं कथाभिधानैः।
भीषणो यदि किमन्यसुताभिलाषैः ॥
स्तुति कुसु० ६।३४

जैसे-

स्वैरैव यद्यपि गतोऽहमधः कुकृत्यैः ।
तत्रापि नाथ तव नास्म्यवहेलपात्रम् ।
दृप्तः पशुः पतति यः स्वयमन्धकूपे ।
नैवोपेक्षते तमपि कारुणिको हि लोकः ।। स्तुति कुसु० ३५।३८

अर्थात् यद्यपि मैं अपने ही कुकृत्यों से इस अधोगति को प्राप्त हुआ हूँ। तथापि मैं आप की करुणासागर के तिरस्कार- तिरस्कार का पात्र नहीं हूँ। क्योंकि यदि कोई उद्धत पशु अपनी ही उद्दण्डता से किसी अंधकूप में गिर जाता है, तो क्या दयालु लोग उसकी उपेक्षा कर उसे वहां छोड़ देते हैं। स्तुति कुसुमाञ्जलि ऐसे ही अनेकों भाव सुमनों के गुच्छों से परिपूर्ण है।

कवि जगद्धरभट्ट ने भावों को सजाने के लिये अपने इस स्तोत्रकाव्य में रसानुरूप अलंकारों का सुन्दर प्रयोग किया। यमक की सुन्दर छटा द्रष्टव्य है ।

यं पीडयति पातमहाकलिकालसन्तः
क्लिष्टं कृतीकृतकलिकालसन्ताप
इन्दोरिवामृतमयी कलिका कान्तं
वाणी वलोक्यति तोत्कलिकाभ्यां तत् ।।
स्तुति कुसु० ६।४५

एक अन्य स्थल पर वृत्यनुप्रास का सुन्दर प्रयोग द्रष्टव्य है।[1]

नमः सकलकलंककलना कलन शालिने ।
विकासिकलिकाकान्तकलापाय स्वयम्भुवे ।।

इसी प्रकार कवि ने श्लेष रूपक, उपमा आदि अनेकों अलंकारों का प्रयोग

१- स्तुतिकुसुमाञ्जलि - २।६

भवतु प्रतिलब्धावन्ध्यनिबन्ध

मूर्ध्नि परस्परानिमित्तनिमित्तभावः ॥

इस छन्द में नारायणभट्ट ने बताया कि भक्ति के बिना परमेश्वर का अनुग्रह नहीं हो सकता और परमेश्वर के अनुग्रह के बिना उत्कृष्ट कोटि की भक्ति नहीं प्राप्त हो सकती। ठीक इसी तथ्य का उल्लेख शिवस्तो० में आ० उत्पलदेव ने भी किया है। यथा।

त्वद्भक्त्या प्रीयसे भक्तः प्रीते त्वयि च नाथ यत्।
तदन्योन्यमयं युक्तं यथा वेत्थ त्वमेव तत्॥

शिवस्तो० १६।२१

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि शिवस्तो० स्तुतिकुसुमाञ्जलि की अपेक्षा उच्च कोटि का स्तोत्रकाव्य है जिसमें कलात्मकता एवं दार्शनिकता दोनों का सुन्दर समन्वय है।

—— ०० ——

सप्तम अध्याय

-: शिवस्तोत्रावलि में अलंकार तत्व :-

शिवस्तो० के गहन अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि उसमें काव्य कला और दर्शन विषयक बेशुमूल्य रत्नों की राशियाँ भरी हैं। शिवस्तो० के रचयिता आ० उत्पलदेव ने स्तोत्रों के प्रणयन में यद्यपि दार्शनिकता को प्रधानता दी है। किन्तु फिर भी उन्होंने इसके काव्यात्मक पक्ष को कम महत्व नहीं दिया। यह तथ्य शिवस्तो० में अलंकार, रस भावादि की सुन्दर योजना पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट हो जाता है। इतना अवश्य है कि आ० उत्पलदेव ने स्तोत्रों के प्रणयन में काव्यात्मक तत्वों (अलंकारादि) को कृत्रिम रूप से विन्यास नहीं किया बल्कि उनका प्रवेश स्वभाविक रीति से स्वत: हुआ है। और यह ठीक भी है क्योंकि कवि के लिये अलंकारपरायण होना आवश्यक नहीं है। इस सम्बन्ध में सहृदय चक्रवर्ती आ० आनन्दवर्धन ने काव्य में अलंकारों की योजना के सम्बन्ध में बड़ी महत्वपूर्ण बात कही है कि काव्य में अलंकार अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य रूप से आने चाहिए। उसके लिये कवि को पृथक प्रयास नहीं करना चाहिए।[१] क्यों कि पृथक प्रयत्न पूर्वक लाये गये अलंकार कवि के के मुख्य प्रतिपाद्य रसभावादि के चर्वण में बाधक सिद्ध होते हैं। काव्य में अलंकारों का ऐसा ही सहज प्रवेश कवि के कवित्व की कसौटी है। यही प्रवृत्ति हमें कविकुल कालिदास की प्रौढ़ भव्य कविता में देखने को मिलती है। फिर आ० उत्पलदेव ने जिस समय शिवस्तो० का प्रणयन किया, उस समय वे भक्ति की पराकाष्ठा पर पहुँचकर जगत् को परमेश्वर मय ही देख रहे थे, क्यों वो उन्होंने न च विभिन्नमत्स्वरूपात् किंचित इत्यादि तात्विक बातें कहीं। अत: ऐसी स्थिति में उन्होंने अपने स्तोत्रों की रचना अलंकारानुसारिणी बनाकर की थी, यह सन्देहास्पद

१- रसाक्षिप्ततया यस्य बन्ध: शक्य क्रियो भवेत् ।
अपृथग् यत्ननिर्वर्त्य: सोऽलङ्कारोध्वनौ मत: ध्वन्यालोक २।१६

है किन्तु फिर भी शिवस्तो० में शब्दालंकार एवं अर्थालंकारों का सम्यक् निदर्शन निरूपण स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

क: शब्दालंकार

अनुप्रास:-

वर्णों के साम्य को अनुप्रास कहते हैं।[1] दूसरे शब्दों में कह सकते हैं कि स्वरों के असमान रहने पर भी जहाँ पद या वाक्य में व्यंजन सादृश्य हो, वहाँ अनुप्रास होता है। शिवस्तो० में अनुप्रास अलंकार की छटा पदे पदे दर्शनीय है। उदाहरणार्थ:-

शम्भो शर्व शशाङ्कशेखर शिव जटाटामालाधर

श्रीमत्कपालकलाञ्छन तवन्द्राम त्रिशूलायुध

करुणाम्बुनिधे त्रिलोकरचनाशीलोग्र-स्वात्मक

श्री कण्ठाशु विनाशयाशुभभरानापत्स्वविधि परान् ।

शिवस्तो० ११(१)

यहाँ पर श और ष की एक से अधिक बार आवृत्ति हुयी है। अत: यहाँ पर अनुप्रास अलंकार है। इसप्रकार[2] ।

नि:शब्दं निर्विकल्पं च निर्व्याक्षेपमथानिशम् ।

क्षोभेऽप्यध्यक्षमीक्षेयं त्वामेव शीव: ॥

जय जगदावन जय जितजन्म-

जरामरणा जय जातस्मोष्ठ ।

जय जय जय जय जय जय जय जय

जय जय जय जय जय जय शङ्कर ॥

१- वर्णसाम्यमनुप्रास: काव्यप्रकाश- ९।१०४

२- शिवस्तो० १२।२४

वही - १३।२४

प्रतिवस्तु सम्यक्योक्त:

प्रतिमाचि प्रतिमाम्यां यथा ।

मम नाथ तथापुर: प्रभो

वृष नेत्रत्रयशोभित: ।। शिवस्तो० १८।११

त्वमेवात्मेश कीस्य अंशवा (त्) नि रागवान् ।

इति स्वा भावयिद्वां सन्दर्भिं आनंजनकेजन: ।।

पूनाम्याद्यादिपि रिकामीमावेवामृताङ्ग्मः।

भवतां हरीरखतपिदामाद्यिम दिव्योकवाम् ।।वही १७।३६

इत्यादि श्लोकों में वृत्यनुप्रास की छटा दर्शनीय है वृत्यनुप्रास[1] एक या एक से अधिक व्यन्जनों की आवृत्ति पर होता है[2]। जैसा कि उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है।

लाटानुप्रास

लाटानुप्रास एक से अधिक पदों की आवृत्ति में होता है।[3] वर्णानुप्रास से भिन्न होने के कारण इसे शब्दानुप्रास भी कहते हैं।[4] शिवस्तो० में भक्ति के चमत्कार से चमत्कृत भक्त लाटानुप्रास के माध्यम से अपने मानसिक भावों को अभिव्यक्त करता हुआ कहता है।

न किंचिदेव लोकानां मवदावरणं प्रति।

न किंचिदेव भक्तानामभवदावरणां प्रति।।

इसी प्रकार

मणिपत्नी समृद्धानां किमन्यद्रुप्यायितम् ।

त्वयायां पाडिहारां किमन्यद्रुप्यायितम् ।।

१- का० प्र० ९।७९

२- पदानां ध: - का० प्र० ९।११२

३- शाब्दस्तु लाटानुप्रासो भेदे तात्पर्यमात्रत:++ वही ९।११२

४- शिवस्तो० - १५।१०, २०।११

कठोपनिषद में रथ, अश्व सारथी, रथी आदि उपमानों के माध्यम से, शरीर, इन्द्रिय मन, आत्मा , का सम्बन्ध हृदयंगम कराया गया है।[1] शिवस्तो० में आ० उत्पलदेव ने भी रमणीय उपमानों का चित्र प्रस्तुत कर शैव दर्शन को मकरन्द से प्लावित कर दुर्बोध ही नहीं बल्कि अत्यधिक रोचक बना दिया है। इस लिये वे दार्शनिक की वैपश्चिती तथा कवि की अलौकिक प्रतिभा दोनों के धनी हैं। उन्होंने लोक से बहुविध उपमान लिये हैं। ऐसे उपमान भी लिये हैं जो प्रायः अन्य दार्शनिकों को कभी सूझे भी न थे । जैसे ।

रागाद्यमिव भावाण्ड
  लुठितांस्त्वद्भक्तिभावनाम्बिकया तैस्तैः ।
आप्याययतु रसैर्मां
  प्रस्नुतकामिवामि वः ॥

शिवस्तो० ७।४

<u>उपमा :-</u> उपमान से भेद के साथ सादृश्य को उपमा कहते हैं ।[2] रसों में जो स्थान शृंगार रस का है। अलंकारों में वही स्थान उपमा का है क्योंकि कवियों ने अपने२ काव्यों में इस अलंकार का प्रयोग प्रचुर मात्रा में किया है ।

श्रौती पूर्णोपमा

जहाँ सादृश्य इव, यथा वा इत्यादि उपमाप्रतिपादकों के द्वारा झटिति प्रतीत हो जाता है उसे केवल श्रौती उपमा होती है। शिवस्तो० में इसका सुन्दर प्रयोग हुआ है। जैसे[3]

१- कठोपनिषद

२- का० प्र० १०।१२५

३- शिवस्तो० १०।२७

पूजा येन मन्यन्ते धेनुं कामदुघामिव ।
तुषाधाराधिकरसां घयन्त्यन्तर्मुखाः परे ॥

यहाँ पर कामदुघामिव शब्द के श्रवण मात्र से ही उपमा का बोध हो जाता है। अतः यहाँ पर श्रौती पूर्णोपमा है।

इसी सन्दर्भ में श्लेषोत्थापित उपमा का भी एक उदाहरण द्रष्टव्य है।[1]

प्रकाशां शीतलामेकां शुद्धां शशिकलामिव ।
दृशं वितर मे नाथ कामप्यमृतवाहिनीम् ।

भाव यह है कि हे स्वामी! चन्द्रमा कि कला जैसी अतिप्रकट शीतल अर्थात् सन्तापों को हरने वाली अत्यन्त निर्मल परम अमृत को धारण करने वाली एक अनुग्रहप्रदा दृष्टि मुझ पर डाल दीजिये ।

व्यंजित उपमा का एक सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है ।

दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते ।
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शांकरः ॥

शिवस्तो० २०।१२

उत्प्रेक्षा अलंकार:-

जहाँ प्रकृत (उपमेय) का उसके समान (अप्रकृत) उपमान के साथ तादात्म्य सम्भावित किया जाता है, वहाँ उत्प्रेक्षा अलंकार होता है।[2] शिवस्तो० में प्रयुक्तसन्देहोत्प्रेक्षा का एक सुन्दर उदाहरण द्रष्टव्य है-

प्रसीद भगवन् येन त्वत्पदे पतितं सदा ।
मनो मे तत्कालस्वाय रसोविष्टं मलोष्मि ॥

शिवस्तो० ५।६

१- शिवस्तो० -३।५
२- का० प्र० १०।१३७

रूपक

उपमेय और उपमान के पारस्परिक काल्पनिक अभेद को रूपक, अलंकार कहते हैं।[1] यह सांग, निरंग और परम्परित भेद से ३ प्रकार का होता है। शिवस्तो० में सांग रूपक अलंकार का प्रचुर प्रयोग देखने को मिलता है और सभी अर्थों में इसकी अलंकारता परिलक्षित हुआ है। स्थान २ पर कवि ने परमेश्वर और जीव के मध्य काल्पनिक अभेद की कल्पना में रूपक अलंकार का प्रयोग किया है।

समस्त वस्तु विषयक साङ्ग रूपक:-

जब आरोप्य विषय (उपमेय) की भांति आरोप्यमाण (उपमान) भी शब्द प्रतिपाद्य रहते हैं। वहाँ समस्त वस्तुविषयक साङ्गरूपक होता है।

कवि ने शिवस्तो० में इसका सुन्दर विवेचन प्रस्तुत किया है। भक्ति की निर्मल धारा में प्रवाहित होने वाला भक्त कहता है कि मूल अर्थात परावाणी भूमि से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी इनके विकास से सुशोभित बनी हुई वही यह वाणी रूपिणी लता मेरे लिये मेरे लिये आपकी भक्तिरूपी अमृत से सींची हुई तथा उत्कण्ठित के आनन्दके रस रूपी बड़े फलों वाली हो।[2]

यहाँपर वाणी, भक्ति तथा भक्ति से प्राप्त होने वाले आनन्द आदि की सभी आरोपों के विषय (उपमेय) और लता, अमृत तथा फल आदि आरोप्यमाण (उपमान) शब्द प्रतिपाद्य है। साथ ही यहाँ रूपक के द्वारा भक्ति के सभी फलों का स्पष्ट किया गया है।

इसी प्रकार एक अन्य स्थल में साङ्गरूपक की छटा दर्शनीय है -

१-का० प्र०

२- आमूलाद्वारन्ध्रा यं प्रविश्य हर शाम्भवी।
त्वदंघ्रिवल्लया मे धृता सद्भक्त्यमृतफला स्तु मे ।। शिवस्तो० १।१३

विश्वन्धनम [illegible] रानुलेपशुचिवर्वे ।
महानजाय भवतेविश्वैक[illegible] नम: ।। शिवस्तो० २।२

यहाँ पर भक्त कहता है कि हे प्रभु! स्वरूप परामर्श से जला हुवा जगत रूपी लकड़ी के बड़े भारी पुन्ज के मलने से अद्वैत प्रकाश रूपी शुद्ध तेज से युक्त और समस्त संसार को एक ही आहुती के रूप में धारण करने वाले परमप्रमातृ-अग्निस्वरूप आपको नमस्कार हो ।

यहाँ पर जगत् अद्वैत - प्रकाश और परमप्रमातृ (आदि के विषय (उपमेय) तथा इन्धन, तेज अग्नि आदि आरोप्यमाणा (उपमान) शब्द प्रतिपाद्य है। साथ ही रूपक के द्वारा परमेश्वर के स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है। अत: यहाँ पर साङ्गरूपक है। साङ्गरूपक के अन्य उदाहरण स्थल भी शिवस्तो० में प्राप्त होते हैं ।

साङ्गरूपक एकदेशविवर्तिप्रकार:- रूपक के इसप्रकार में कुछ आरोप्य-माण विषय तो शब्द प्रतिपाद्य होते है और कुछ ऐसे है, जो कि सामर्थ्य से प्रतीत होते है।[1] जैसे - शान्त हो गयी है विकल्प रूपी लहरें जिसकी ऐसे शीतल, निर्मल तथा मधुर भक्ति अमृत रूपी समुद्र में अलौकिक परमानन्द-रस के चमत्कार के विषय में सुख पूर्वक स्थित भक्त जनों के लिए कृष्ण कामिनी भी [illegible] जाता है ।[2]

यहाँ पर उपमेयभूत, भक्ति, का आरोप्यमाण विषय सुधाम्बुधि, शब्द प्रतिपाद्य है । इसी के अर्थ सामर्थ्य से कल्लोल, लहर: ही विकल्प रूपी प्रतीत है। अत: यहाँ पर एकदेशविवर्ति रूपक है ।

निरङ्ग रूपक:-

वह रूपक जो रूपान्तर से अभिहित हुआ करता है वह निरङ्ग रूपक

1- का० प्र० १०।१४४
2- शान्तकल्लोलशीतास्वच्छस्वादु भक्ति सुधाम्बुधौ ।

कहलाता है।[1] शिवस्तो० में भक्त कहता है कि हे स्वामी, मैं उस स्वरूप आवेशमय स्थान को प्राप्त करूँगा जहाँ हँसा जाता एवं नाचा जाता है। राग द्वेषादि मारे जाते हैं और भक्ति रूपी अमृत रस पिया जाता है।[2]

यहाँ पर भक्ति में अमृतरस का आरोप है, उसके पोषण के लिये दूसरे आरोप नहीं अतः यहाँ पर निरंग रूपक है।

<u>माला निरंग प्रकार:-</u>

इस रूपक में एक उपमेय में अनेकों उपमानों का आरोप हुआ करता है।[3] शिवस्तो० में इसका सुन्दर प्रयोग किया गया है। जैसे -

जय मोहान्धकारान्ध जीवलोकैकदीपक ।
जय प्रसुप्त जगतीजागरूकाधिपूरुष ।। शिवस्तो० १४।१८

यहाँपर भक्ति की मस्ती में मस्त भक्त एक उपमेयभूत परमशिव में परामर्श प्रकाशक, जगद्गुरु आदि अनेक उपमान आरोपित है।
इसी प्रकार -

जय जय भाजन जय जितजन्म-
जरामरण जय जगज्ज्येष्ठ ।
जय जय जय जय जय जय जय
जय जय जय जय जय जय जय हरका ।।
शिवस्तो० १४।२४

अलौकिकरसास्वादे सुस्थैः को नाम गण्यते ।। शिवस्तो० १।२१
१- का० प्र० १०।१४३
२- शिवस्तो० ५।१८
३- का० प्र० १०।१४४

प्रस्तुत प्रसंग में भक्त कहता है कि चिद्रूपता के कारण जय जयकार के सर्वश्रेष्ठ पात्र सर्वेश्वर आपकी जय हो। जन्म, बुढ़ापा तथा मृत्यु को जानने वाले मृत्यु न्जय आपकी जय हो। अनादि होने के कारण जगत में सर्वश्रेष्ठ पात्र-स- प्रभु आपको जय हो। आपकी जय हो हे त्रिनत्रधारी प्रभु आपकी जय हो[1]

यहाँपर उपमेय स्वरूप परमेश्वर में सर्वेश्वर मृत्युन्जय आदि अनेकों उपमान आरोपित है अत: यहाँ पर मालानिरंग रूपक है।

समासोक्ति:-

इस अलंकार में श्लिष्ट (दो अर्थवाले) विशेषणों के माध्यम से प्रस्तुत अप्रस्तुत के व्यवहार का आरोप किया जाता है। जैसे कि शिवस्तो० में भक्त अपने आराध्य परमेश्वर से कहता है कि कि हे प्रभु ! प्राप्त हुयी है आपको । स्वरूप प्रमात्मक) सम्पदा जिनको, ऐसे आपको (चिद्रूप) पुरी में रहने वाले भक्त जनों का लोकमार्ग (व्युत्थान) में भी जो व्यवहार होता है वह उसी (चिदानन्द स्वरूप के विकास से होता है।[2]

दृष्टान्त:-

जहाँ उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य दोनों वाक्यों में हन सब का अर्थात् उपमान, उपमेय और साधारण धर्म का बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव फलकता है। वहाँ दृष्टान्त अलंकार होता है।[3]

१- का० प्र० १०।१४८

२- लब्ध त्वत्सम्पदां भक्तिमतां त्वत्पुरवासिनाम् ।
संचारो लोकमार्गेऽपिस्यान्तयैव विजृम्भया । शिवस्तो० १।२

३- का० प्र० १०।१५५

जैसे हे परमेश्वर मैं अपनी इच्छा से ही आप प्रभु के (अत्यन्त ऊँचे शक्ति रूप)महल पर बिना रोक टोक के चढ़कर (आपके) अनुग्रह से समावेश में साक्षात्कार रूपी अत्युत्कृष्ट अमृत मधु आपान करने की क्रीड़ा से सदैव आनन्द परिपूर्ण बना रहूं।[1]

यहाँ पर प्रस्तुत अपना एवं पुर आदि शब्दों में अप्रस्तुत एक प्रकारात्मकता एवं निरूपता आदि की प्रतीति होती है अत: यहाँपर समासोक्ति अलंकार है।

अर्थान्तरन्यास:-

जहाँ साधर्म्य और वैधर्म्य की दृष्टि से सामान्य का विशेष द्वारा और विशेष का सामान्य द्वारा समर्थन किया जाता है। वहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार होता है।[2] उदाहरणस्वरूप शिवस्तो० का यह पद्य

त्वत्कर्णदेशमधिशय्य महार्घभाव-
माक्रन्दितानि मम तुच्छतराणि यानि
देशान्तरालपतितानि जलैकदेश।
अण्डानि मौक्तिकमणित्वमिवादिशन्ति।[3]

हे स्वामी मेरी अति तुच्छ करुणास्वर पूर्ण पुकारें आप के कानों के पास पहुँचकर ही बहुमूल्यता (अर्थात्बड़े मोल) को प्राप्त होती है। जिस प्रकार स्वाति नक्षत्र में वर्षा के जल की छोटी २ बूंदें सीपके पेट में पड़कर मोतियों के रूप को धारणा करती है।

१- यत्सत्यतनुगाधिमरुकुल्
रूपक्रान्तिमिथिना चमत्कृतिम् ।
तां लभेयापि येन ते वपुः
प्रवयन्त्यचलमधिशायिन: ।। शिवस्तो० १३।१३
२- का० प्र० १०।१६५
३- शिवस्तो० ११।६

राज्यलक्ष्मीमाक्रान्तिस्फुल्लैः केश्चित्कृणमहोत्सवो।
कुमारस्यैव एकता जगता लंघयिष्यती ।।

इस श्लोक में भी अर्थान्तरन्यास की छाया दर्शाया है ।

प्रथम पद्य के तीन चरणों का वर्णन, एक सामान्य विषय है, जिसके समर्थन हेतु चतुर्थ चरण में एक विशेष अर्थ का न्यास किया गया है। इसलिये इस पद्य में अर्थान्तरन्यास अलंकार है। इसी प्रकार ।

विरोध:-

वास्तवरूपसे विरुद्ध का भासित होने वाला अलंकार विरोध है । यह जाति के जाति से, जाति के गुण से , जाति के क्रिया से, जाति के द्रव्य से गुण के गुण से गुण के क्रिया से गुण के द्रव्य से क्रिया के क्रिया से क्रिया के द्रव्य से एवं द्रव्य के द्रव्य से विरोध वर्णन में दस प्रकारका होता है ।[1]

परमेश्वर की स्तुति में बा० उल्लसकवे द्वारा लिखा गया अर्थात् जिस पंक्ति पंक्तियोंमें गुणों का गुणों से विरोध है ।[2]

भवन्ति भक्तिपीयूषरसास्वादोन्मदाः ।
अद्वितीयाअपि सदा त्वद्वितीया अपि प्रभो ।।

हे प्रभु आपके भक्ति अमृतरस रूपी उत्तम आसव को पीकर जो मतवाले हो जाते है। और जो सदैव अनुपम अद्भुत असाधारण स्वरूप वाले होते हुए भी आपके समान स्वरूप वाले होते हैं ।

1- सा० द० १० ।६७ -६८
2- शिवस्तो० -१९

यहाँ बद्धिवाया और छिवाया गुणों में परस्पर विरोध है। परन्तु यह वास्तविक विरोध नहीं है। यहां विरोध में खड़े किये वाक्यांश प्रकारान्तर से गुण ही है।

गुण गुण का विरोध कथन निम्न कथन में भी देखा जासकता है।

वेद आदि शास्त्रों के विरोधी, वेद आदि शास्त्रों का विधान करने वाले वेद आदि शास्त्रों के सारभूत स्वरूप और वेदों का अगोचर बने हुए स्वामी अर्थात परमेश्वर को नमस्कार हो।[1]

यहाँ पर वेदागमविरुद्धाय, एवं वेदागमविधायिने। यहाँ मैं विरोध होने से विरोध अलंकार है किन्तु यह प्रकारान्तर से एक अन्य स्थल पर कवि ने इसी प्रकारका अन्य उदाहरण प्रस्तुतकिया है।

"संसार के निर्माण के एक ही कारण होते हुए भी संसार के एक ही विरोधी अर्थात संहारक संहार स्वरूप अर्थात विध्नमय होते हुए भी संसार से अछूते रूप वाले (विश्वातीतीर्णी) आप कल्याण स्वरूप शिव को नमस्कार हो।"[2]

यहाँपर विरोधाभाव या विरोध है क्योंकि संसारैकनिमित्ताय, संहारकपाय, शब्दों श्लेष है जो विरोध का आभास मिल रहा है। इन शब्दों का अर्थज्ञान होते ही विरोध का निराकरण जाता है। सृष्टि करके संहार करना कभी विध्नातीतीर्ण भाव में तथा कभी विश्वमय भाव में ठहरने के परमेश्वर के स्वभाव के ज्ञान होते ही वस्तुतः कुछ भी विरोध नहीं रह जाता शिवस्तो० में इसीप्रकार केअन्य स्थल भी प्राप्त होते हैं।

- -

१- शिवस्तो० २।७

२- कु० चन्द्रा० ५।७४-७५

अलंकार संसृष्टि:-

अनेक अलंकारों का परस्पर निरपेक्षता में भी एकत्र की स्थिति को अलंकार संसृष्टि कहते हैं।[1] अलकारों को यह संसृष्टि शिवस्वा० के निम्नलिखित श्लोक में देखा जासकता है।[2]

तटेष्वेव परिभ्रान्तै: लब्धास्ताता विभूतया: ।
यस्य तस्मै नमस्तुभ्यमगाधहरसिन्धवे ।।

इस छन्द में श्लेष(तटेषु) और रूपक अगाधहरसिन्धवे) परस्पर निरपेक्ष रूप से अवस्थित हैं ।

इसी प्रकार ।

जय जयमायन जय जितजन्म-
जरामरण जय जगज्जेष्ठ ।
जय जय जय जय जय जय जय
जय जय जय जय जय जय अजर ।।

इस छन्द में भी अनुप्रास (ज) एवं मालानिरंग रूपक निरपेक्ष भाव से अवस्थित है ।

अलंकार संकर:-

जहां अनेक अलंकार स्वतन्त्र रूपसे स्थित न होने के कारण परस्पर अंगांगि रूपसे वर्तमान रहते है। वहां अलंकार संकर होता है।[3]
उदाहरण के लिये यह पद्य प्रस्तुतकिया जा सकता है ।

पृथा केन मन्यन्ते धेनु कामदुधामिन ।
सुधामाराधिकरसां मन्यन्तेमुधा: परे ।। शिवस्वा० ९।३७

यहां पर उपमा रूपक एवं अनुप्रास अलंकारों के परस्पर अंगांगिभाव से विद्यमान रहने के कारण अलंकार संकर है ।

१- का० प्र० १०/२०७
२- शिवस्वा० २।१४
३- का० प्र० १०।१०८ -११२

ग:- अलंकारों की भावानुकूलता:-

अलंकारों का रस के अंधन में महत्वपूर्ण योगदान हुआ करता है। क्योंकि अलंकार का अर्थ ही अलंकरोति (रस) अनेक इति अलंकार: है। अत: अलंकारोंकी भावानुकूलता नितान्त आवश्यकता है। क्योंकि भावानुकूलता से ही काव्य में प्रयुक्त छन्दों में रसनिष्पत्ति सम्भव है और रसनिष्पत्ति से ही अलंकारों की सार्थकता सम्भव है। इसीलिये रसानुकूल अलंकारों की योजना करनी चाहिए। इस सम्बन्ध में डा० आनन्दवर्धन का निम्न कथन अवधेय है[१]।

> रसादिप्सततयायस्य बन्ध: शक्य क्रियो भवेत।
> अपृथक यत्ननिर्वृत्य: सोलंकारोध्वनिमित:।।

शिवस्वा० में अलंकार योजना बहुत ही स्वभाविक ढंग की प्रतीति होतीहै।उसमें कहीं भी नहीं ऐसा स्थल नहीं है जहाँ अलंकार भावों के प्रतिकूलहो।उदाहरण के लिये उपमालंकार समन्वित इस छन्द को प्रस्तुत कियाजा सकता है[२]।

> प्रकाशां शीतलामेकां शुद्धां शशिकलामिव।
> वृत्रं वितर मे नाथ कामप्यमृतवाहिनीम्।।

यहाँ पर जीव सांसारिक तापों से सन्तप्त है, जिसके कारण वह दु:खी है। कवि की दृष्टि में परमेश्वर का अनुग्रह होना ही इस दुख:निवृत्ति का एक मात्र कारण है, उसका विश्वास हैकि परमेश्वर केअनुग्रह से सांसारिक दु:खोंकी ज्वाला शान्त हो जायेगी। जिससे जीव उसी प्रकार

१- ध्वन्यालोक 2।16

२- शिवस्वा० ३।५

की शीतलता का अनुभव करेगा, जिस प्रकार चन्द्रमा की शीतल किरणों शीतल एवं सुखदायी होती है।

उपमालंकार के द्वारा यहाँ कवि ने अपने सिद्धान्त के अनुकूल भाव को अभिव्यक्त किया है। परमेश्वर के अनुग्रह को स्पष्ट करने के लिये आ० उत्पलदेव ने शशिकलाभिः शब्दका प्रयोग अलंकार को भावानुकूल बनाने की ही दृष्टिसे किया है।

इसी प्रकार एक अन्य स्थल में कवि ने रूपक अलंकार के माध्यम से भक्ति की अलौकिकता प्रतिपादित की है। उन्होंने भक्ति को निर्मल मधुर, परमानन्द पूर्ण अमृतमय समुद्र निरूपित करते हुए, उसमें अवगाहन करने वाले भक्त को सर्वोपरि माना है।

उक्त भाव के अभिव्यक्ति रूप प्रयोजन में कवि के द्वारा प्रयुक्त रूपक अलंकार पूर्णतया भावानुकूल है। इसी सन्दर्भ में यह छन्द भी उल्लेखनीय है।

तत्त्वतत्त्वसंपदा भक्तिमता त्वत्पुरवासिनाम् ।
सञ्चारो लोकमार्गेऽपि स्यात्कैव विडम्बना ।।

यहाँ पर कवि को उत्कृष्ट कोटि की परा भक्ति से प्राप्त होने वाली ब्रह्मानन्दात्मक स्थिति को ही बताना अभीष्ट है किन्तु उन्होंने इस भाव के प्रकाशन में समासोक्ति को माध्यम से बनाया है।

इसी प्रकार के अन्य उदाहरण स्थल भी शिवस्तो० में उपलब्ध होते हैं। जिनमें अलंकारों एवं भावों का सुन्दर समन्वय दृष्टिगोचर होता है।

१- शिवस्तो० १।२९

२- वही ८।१३

५- अलंकारों द्वारा दर्शनोपदेश

शिवस्तो० की रचना में आ० उत्पलदेव की दृष्टि दार्शनिक विचारधारा से ओत प्रोत प्रतीत होती है। उन्होंने सर्वत्र परमशिव के सान्निध्य के लिये भक्ति के द्वारा समावेशात्मक स्थिति को प्राप्त करने पर बल दिया है। अत: इन भावों के प्रकाशन में जहां कहीं। अलंकारों का प्रयोग किया भी दार्शनिक तत्व को सुगम सुबोध, सुन्दर-सुरुचिपूर्ण बनाने के की पूर्ति के लिये ही हुआ है। अलंकारों द्वारा दर्शनोपदेश की प्रवृत्ति आदिकवि वाल्मीकि गोस्वामी तुलसीदास एवं भक्त सूरदास आदि अनेकों कवियों में भी परिलक्षित होती है। ~~उदाहरण के लिये~~ गोस्वामी तुलसीदास द्वारा रचित रामचरितमानस की [illegible] पंक्तियों से अनुपम [illegible] सकता है, जिनमें उन्होंने रूपक अलंकार के माध्यम से जीव को दर्शनोपदेश दिया है।

आ० उत्पलदेव ने जीव के लिये सांसारिक बन्धनों से निवृत्ति के लिये स्वरूप समावेशमय अवस्था की प्राप्ति आवश्यक बताया। उनके मत में भक्ति सुधा सागर में प्रस्नात भक्त रागद्वेषादि सांसारिक कीचड़ में गिरकर भी इनके विकारों से लिप्त नहीं होते[1]। उन्होंने यह स्पष्ट किया कि साधना के ज्ञान, अष्टयोगादि मार्गों द्वारा प्राप्त की जाने वाली अणिमा आदि सिद्धियां परिपक्व अवस्था को प्राप्त भक्तिरूपिणी-लता की ही अंग है। अत: भक्ति के ही माध्यम से तत्वज्ञान करना श्रेयस्कर है[2]।

कवि ने उक्त अन्य उपदेशों में रूपक अलंकार का बहुतायत प्रयोग किया है। उन्होंने रूपक के माध्यम से सम्पूर्ण इन्द्रियों में प्रधान मन के स्वरूप का सुन्दर विवेचन करते हुए जीव को साधना पथ पर अग्रसर कराने का

१- भक्तिक्षीरसुधासारस्यैः किमप्युपलालिताः।
ये न रागादिपङ्काङ्कलेपमायान्ति पतिता अपि॥ शिवस्तो० १।२४

२- वही १। २५

प्रयास किया है।

> चित्रं निर्वर्तो नाथ दुःखबीजमिदं मनः ।
> त्वत्प्रणिततरुसंसिक्तं निःश्रेयस महाफलम् ।। शिवस्तो० १।२६

प्रस्तुत छन्द में कवि ने बताया कि यह मन रूपी पेड़ स्वभाव से ही है। विकल्परूपी उपद्रवों का हेतु है और इसका बीज (मूल) दुःख है किन्तु यही मन रूपी पेड़ समावेशात्मक भक्ति रस से सींचे जाने पर परमानन्द रूपी अति उत्कृष्ट फल वाला बन जाता है।

इसी प्रकार विरोधाभास के माध्यम से कवि ने परमेश्वर के स्वरूप का सुन्दर विवेचन करते हुए जीव को उसी परमपिता कान्मयता का आश्रय ग्रहण करने के प्रति प्रेरित किया है। जैसे १-

> नमः सतत बद्धाय नित्यनिर्मुक्ति भागिने ।
> बन्धमोक्षविहीनाय कस्मैचिदपि शम्भवे ।।

(" जो सदा बन्धन में पड़े हुए, सर्वथ, पारमार्थिक मुक्तिका पात्र बने हुए किन्तु तात्विक दृष्टि से संसार के बन्धन और मोक्ष से परे रहने वाले एक अलौकिक और कल्याण स्वरूप प्रभु को नमस्कार हो।

यहाँ पर परमेश्वरको बन्धन और मोक्ष का पात्र प्रतिपादित करने में कवि को परमेश्वर के विश्वोत्तीर्ण और विश्वात्मक स्वरूप को ही बताना अभीष्ट है। वस्तुतः वह न तो बन्धन का पात्र होता है और न ही मोक्ष का वह तो कालातीत और सर्वथा स्वतन्त्र है। अतः ऐसे परमेश्वर की शरण में जाना सर्वथा श्रेयस्कर एवं कल्याण

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- शिवस्तो० १।१७

अष्टम - अध्याय

अध्याय ६

शिवली॰ में भाव सौन्दर्य

क:- संस्कृत कवियों की आस्तिकता एवं देवाराधन:-

संस्कृत के प्रायः समस्त काव्यकृतियों में देवस्तुतियाँ उपलब्ध होती हैं। नाट्यकृतियों में प्रारम्भिक नान्दी के द्वारा ही नाट्य कवि अपने इष्ट देव का आराधन करता है। वस्तु वर्णनों के साथ २ देवस्तव भी महाकाव्यों का अभिन्न अंग सा बन गया है। कवि किसी न किसी प्रसंग को उपस्थित कर अपने काव्य में देवस्तुति अवश्य ही करता है। इसके पीछे उसकी आस्तिकता एवं ईश्वर भक्ति ही कारण है। उसे अपनी वैदुषी एवं कवि प्रतिभा के प्रकाशन में भी वैसी तृप्ति अनुभूत नहीं होती जैसी कि भक्ति की अभिव्यक्ति में। इस सम्बन्ध में काव्यशास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्य भी। इस सम्बन्ध में काव्यशास्त्र के प्रतिष्ठित आचार्य एवं सहृदय चक्रवर्ती आनन्दवर्धन की उक्ति ही परमप्रमाण है। उन्होंने ध्वन्यालोक में कहा है।

> या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
> दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थ विषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
> ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
> श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन त्वद्भक्ति तुल्यं सुखम्।
>
> ध्वन्यालोक।

आनन्दवर्धन स्वयं दार्शनिक भी थे। आलंकारिक भी थे और सहृदय कवि भी थे। उन्होंने कवि दृष्टि एवं दार्शनिक दृष्टि इन दोनों ही दृष्टियों से संसार का निरीक्षण किया, किन्तु उन्हें वह सुख नहीं मिला जो कि भगवान विष्णु की भक्ति में मिला था। उनकी यह अनुभूति वस्तुतः सभी कवियों एवं आचार्यों की अनुभूति का प्रतिनिधित्व करती जान पड़ती है। क्योंकि महाकवि कालिदास ने मेघदूत में भगवान

राम के प्रति अपनी भक्ति का प्रदर्शन किया है ।

रघुवंश महाकाव्यम् में उन्होंने भगवान शंकर को सृष्टि, स्थिति एवं संहार का एकमात्र कारण स्वीकार करते हुए उनकी स्तुति की है ।

वेदों की रचना के बाद संस्कृत साहित्य में जिन काव्यों नाटकों व गीतियों इत्यादि की रचना की गयी, उनमें उनके रचयिता कवियों ने आस्तिकता की इसी परम्परा का पूर्णतया निर्वाह किया। इस लिये उन्होंने अपने काव्यों में कहीं न कहीं अपने इष्ट देवता की स्तुति निश्चित रूप से की है। भले ही वह स्तुति किसी को माध्यम बनाकर की गयी हो । ऐसा प्रतीत होता है कि महाकवि कालिदास जैसे रससिद्ध कवि को अपने जीवन की सन्ध्या में वैराग्य सा हो गया था और वे मुक्ति, प्राप्ति के प्रति विशेष उत्सुक थे । इसी कारण उन्होंने अभिज्ञान शाकुन्तलम् में भगवान शंकर से संहार के अनन्तर पुनः सृष्टि न करने की याचना की है ।

ममापि च क्षपयतु नीललोहितः ।
पुनर्भवं परिगतशक्तिरात्मभूः ॥

अभिज्ञान शाकुन्तलम् । ७।३५

प्रस्तुत प्रसंग को देखकर ऐसा भी प्रतीत होता है कि कालिदास की दृष्टि में भगवान शंकर ही अखिलब्रह्माण्ड की अद्वितीय शक्ति है। उनके अतिरिक्त सब कुछ उन्हीं के अधीन है। इस तथ्य की ओर उन्होंने रघुवंश में भी संकेत किया है।

---

१. आपृच्छस्व प्रियसखममुं तुङ्गमालिङ्ग्य शैलं
वन्द्यैः पुंसां रघुपतिपदैरङ्कितं मेखलासु ।
काले काले भवति भवतो यस्य संयोगमेत्य
स्नेहव्यक्तिश्चिरविरहजं मुञ्चतो बाष्पमुष्णम् ।

मेघदूत पूर्वमेघ -१२

काव्यशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार रस भावादि काव्य के जीवन भूत तत्व माने जाते है। और यह ठीक भी है क्योंकि नीरस काव्य रसिकों के लिये कभी रुचिकर हो सकती है।

संस्कृत साहित्य की काव्यशास्त्रीय मान्यताओं के अनुसार रस को काव्य का प्राण कहा गया है। इस लिये आ० विश्वनाथ ने रसात्मक काव्य को ही काव्य कहा है।[१] काव्य शास्त्र के मूर्धन्य आचार्य अभिनवगुप्त रसध्वनि को ही काव्य की आत्मा मानते है और वस्तु ध्वनि तथा अलंकार ध्वनि का पर्यवसान रसध्वनि में ही मानते है।[२] आ० अभिनवगुप्त का ही अनुसरण कर साहित्यदर्पणकार भी रसात्मक वाक्य को ही काव्य माना है।

मनुष्य के मन में रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह भय जुगुप्सा विस्मय और निर्वेद ये नौ भाव जिन्हें स्थायी भाव कहा जाता है। वासना रूप में वर्तमान रहते है। विभावानुभाव एवं संचारी भावों के संयोग से इन्हीं स्थायी भावों के रस्यमान स्थिति जिसमें मन विश्राम पाता है रसनिष्पत्ति है।[३] दूसरे शब्दों कहा जाता है कि रसनिष्पत्ति आलम्बनों के माध्यम से जो कुछ उद्दीपन से उद्दीपित व्यभिचारी अथवा संचारी भावों से पुष्ट तथा अनुभावों से अभिव्यक्त स्थायी भाव ही रस कहा जो प्राप्त होता है। इस प्रकार स्थायी भावों के उपाधि भेद से रस भी नौ प्रकार के होते है। जिन्हें, शृंगार। हास्य करुणा, रौद्र वीर भयानक वीभत्स एवं

१- वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। साहित्य दर्पण १।३

२- वस्तुतः रसः एवं काव्यस्य आत्मा वस्त्वलंकार ध्वनि तु रसं प्रति पर्यवस्यते। लोचन १ उद्योत

३- भावविभावानुभावव्यभिचारी भावैर्भावो। विश्रामो यत्र क्रियते स रसः। रसतरंगिणी तरंग ६ पृ०१७

आ० आनन्दवर्धन अमरुकशतक काव्य में शृंगार रसाभिव्यक्ति से इतना प्रभावित हुए थे कि उन्होंने अमरुक के एक मुक्तक को प्रबन्धायमान कहा है। इसी आमरुकशतक की तुलना में जब हम शिवस्तो० के भक्ति रस ओत प्रोत पदों को पढ़ते हैं। तो इसके भी एक एक मुक्तक छन्द प्रबन्धायमान से प्रतीत होते हैं। शिवस्तो० में रसों की अपेक्षा भाव सौन्दर्य अत्यधिक प्रस्फुटित हुआ है। अतः रसों और भावों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करना आवश्यक है। देवादिविषया रति की व्यञ्जना होने पर एवं व्यभिचारी भावों के प्राधान्येन अभिव्यक्त भाव या भावध्वनि है। ऐसी मम्मट आदि आचार्यों की मान्यता है। काव्यकार आ० मम्मट ने भावध्वनि के उदाहरण के रूप में शिवस्तो० के निम्नश्लोक को उद्धृत किया है।

कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते
कालकूटमपि मे महामृतम् ।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपु-
र्भेदवृत्ति यदि रोचते न मे ।।[1]

यहाँ पर भक्त की उक्ति में कहा गया है कि हे महादेव आपके गले के कोने में पड़ा हुआ कालकूट विष भी आपसे अभिन्न होने के कारण मेरे लिये बहुत बड़ा अमृत है। उसकी तुलना में आपके स्वरूप से भिन्न अनायास प्राप्त होने वाला अमृत भी मुझे स्वीकार्य नहीं। प्रस्तुत पद्य में महादेव आलम्बन, उनका उद्दीपन, पुलक अनुभाव एवं महात्म्य का स्मरणादि व्यभिचारी भाव है। आ० उत्पलदेव की देवादिविषयक रति की ऐसी ही सुन्दर व्यञ्जना पदे पदे देखने को मिलती है।

दुःखान्यपि सुखायन्ते विषमप्यमृतायते ।[2]
मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः स शांकरः ।।

~~मोक्षायते च संसारो यत्र मार्गः~~ प्रस्तुत श्लोक में ठीक वही भाव चित्रित हुआ है। जैसा कि आ० मम्मट ने देवादिविषयक रति के सन्दर्भ में उद्धृत किया है क्योंकि जिस प्रकार उक्त श्लोक में भगवन्निष्ठ रतिभाव की अभिव्यक्ति

१- शिवस्तो० १३।१७
२- वही २०।१२

हुआ है वैसा शान्तिसिद्धान्त प्रस्तुत श्लोक में भी हुआ है ।

अतः कहसकते हैं कि पूर्ववर्ती काल में स्तुतिवाक्यों का अन्तर्भाव भावध्वनि में ही माना जाता था, भक्तिरस में नहीं। आ० मम्मट की भांति आ० विश्वनाथ ने भी देवविषयक रति को भाव ही माना है,[1] किन्तु परवर्ती काल में देवादिविषयक रति को भक्तिरस में ही अन्तर्भूत माना गया, जो आज भी विवाद का विषय बना हुआ है। भक्ति को रस रूप में स्वीकार करने का कारण सम्भवतः स्तोत्र ग्रन्थों का प्राचुर्य ही था। इस प्रकार का भावध्वनि को भक्तिरस मानने वालों में से रूप गोस्वामी प्रमुख हैं। भक्ति को रस रूप में स्वीकार करते हुए आ० रूप गोस्वामी ने कहा है कि भक्ति कोई सामान्य भाव न होकर एक उदात्त एवं उच्च भाव है क्योंकि भक्त के तन्मयता की स्थिति ही भक्ति है। तथा आनन्दातिरेक के वशीभूत होकर वे मोक्ष तक की इच्छा नहीं करते ।[2] रूपगोस्वामी ने तो यहाँ तक कहा है कि वस्तुतः भक्तिरस में अन्य रसों की स्थिति संचारीभावों के ही समान है।[3]

शिवस्तो० भक्तिप्रधान स्तोत्र काव्य है।उसमें सर्वत्र भावों की ही प्रधानता है।भावध्वनि के अतिरिक्त उसमें चिन्ता दैन्य , औत्सुक्य, अधिरता , वेदना मति धीरता आशा इत्यादि अन्यान्य भावों की सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

<u>शिवस्तोत्रावलि में भाव सौन्दर्य</u>

<u>क- रति :-</u>

यह पहले ही विवेचित किया जा चुका है कि देवादि विषयक रति

1- स्तोत्रभक्तिव्याख्यात्मिकी रति देवविषया: रसगंगाधर
2- अतः भक्तिाय भक्तानां नत्वापि स्पृहा भवति।
भक्तिरसामृतसिन्धु ।
3- हासादीनाम् व्यभिचारित्व पोषणात्।

भावध्वनि होती है। शिवस्तो० में भगवान शंकर के प्रति यह रति भाव, अत्यधिक परिपुष्ट हुआ है। आ० उत्पलदेव उत्कृष्ट कोटि के भक्त थे। अतः शिवस्तो० में उन्होंने सर्वत्र भगवान शंकर के भक्ति की ही याचना की है। इस आशय का यह श्लोक प्रस्तुत किया जा सकता है।

न रिक्तो न चापाशो भोदितावलिनो त्वदर्चकः।
भवेयमपि तु प्रिवत भव यावदर सन्निदः ।।शिवस्तो०१५।४

उन्होंने शिवस्तो० में सर्वत्र एकनिष्ठ भाव से अपने आराध्य भगवान शंकर के प्रति अव्यभिचारिणी भक्ति का ही महात्म्य निरूपित किया है।

रसाणीव वर्षेनानि बहुमान्यमिदं प्रभो।
संसारदुर्गतिहरं भवद्भक्ति महाधनम् ।।शिवस्तो० १५।१०

भक्ति की अतिशयता में कवि भावविभोर होकर कह उठता है।

भरावरपितः स्वामिन् अप्यनन्या अपि कुण्ठिनः।
श्रीमन्तं परमुदाममवद्भक्तिविभूषणाः ।शिवस्तो० १५।७
भक्ति लक्ष्मी समृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदुपयाचितम् ।।शिवस्तो० २०।११

इसप्रकार उक्त श्लोकों में सर्वत्र देवविषयक रति भगवान् शंकर को आलम्बन बनाकर व्यञ्जित हुई है। यहां पर एक बात विचारणीय है कि यद्यपि पूर्ववर्ती काल में देवादिविषयक रति भाव ध्वनि के अन्तर्गत ही शामिल रही। तथापि परवर्ती काल में कुछ आचार्यों ने इसे भक्ति रस की मान्यता दी। इस सन्दर्भ में आ० उत्पलदेव का दृष्टिकोण भावध्वनि सहित, भक्तिरस को भी मानने का प्रतीत होता है। क्योंकि शिवस्तो० में उन्होंने अनेक स्थलों पर भक्ति को रस बताया है। उदाहरणार्थ निम्न पद्य को प्रस्तुत किया जासकता है।

होती है। शिवस्तो० में ऐसे अनेकों स्थल प्राप्त होते हैं, जिनमें साधक अपने आप को वेदना ग्रस्त अनुभव करता हुआ अपने को शक्तिहीन, असहाय समझता है और अन्ततः इस वेदना से मुक्ति पाने के लिये अपने एकमात्र आराध्य एवं साध्य परमेश्वर परमशिव से प्रार्थना करता है ।

मूढोऽस्मि दुःखकलितोऽस्मि जरादिदोष-
भीतोऽस्मि शक्तिरहितोऽस्मि तवाश्रितोऽस्मि ।
शम्भो तथा कलय शश्वदुपैमि येन
सर्वात्मना सुरमपोज्झित दुःखभागः ।।शिवस्तो० ११।८

ऐसे प्राणियों की दृष्टि में जीवन यात्रा अत्यन्त कष्टमय होता है। उनका प्रत्येक प्रत्येक पल दुःखानुभूति में ही व्यतीत होता है। यहाँ के सुख भी उसे अत्यन्त कष्टप्रद प्रतीत होने लगते हैं। किन्तु जब साधना के द्वारा भगवान शंकर का अनुग्रह होता है। वह वेदनामुक्त[१] हो जाता है और उसके बाद वह अपने आपको सुखी समझने लगता है ।

ग:- <u>मिलन के अनुकूल भाव :-</u>

विरह और मिलन ऐसे दो पहलू की भाँति है। जो क्रमशः मनुष्य के जीवन में को प्रभावित करते रहते हैं। शिवस्तो० में उल्लिखित विरह और मिलन पारमार्थिक है। उसमें जीव परमेश्वर के बीच वियोग एवं संयोग का ही चित्रण है। शिवस्तो० पर दृष्टिपात करने से उसमें भक्ति, धीरता, आशा एवं मिलन की अनुभूति जैसे भाव दृष्टिगोचर होते हैं। जिनका विवेचन आगे किया जायेगा।

<u>भक्ति:-</u>

नीति मार्ग के अनुसरण से वस्तु तत्व का निश्चय भक्ति कहलाती है ।

- - - - - - - - - - - - - - - - - - - -

१- शिवस्तो० १४।६

इसके होने पर मुस्कराहट, धैर्य सन्तोष, आत्मसम्मान आदि की अनुभूति होती है।[1] शिवस्तो० में यह भाव स्पष्टतया अभिव्यक्त हुआ है। जब साधक परमेश्वर के समावेश को प्राप्त कर लेता है, तो उसे यह देह और चिदात्मा परमशिव से भिन्न होने पर त्याज्य एवं उससे अभिन्न होने पर सर्वथा ग्राह्य होता है।[2] इस प्रकार के अनुभव से उसे धैर्य सन्तोष दोनों की ही प्राप्ति होती है। साथ ही वस्तुतत्त्व (परमेश्वर) के स्वरूप का निश्चय होता है। परमेश्वर के स्वरूप के निश्चय से उसके मिलन का अनुभव होने लगता है। फिर तो वह साधक केवल अपना शरीर, मन , बुद्धि , एवं वाणी द्वारा किये जाने वाले सभी कार्यों में भक्तिरस का ही आस्वादन करना चाहता है।[3] अन्य किसी रस का नहीं। एक बार तत्त्व का निश्चय हो जाने के बाद वह विचलित नहीं होता।

धारणा:-

भक्ति भाव से तत्त्व के निश्चय के बाद साधक में धारणा का उदय होता है। तत्त्व के निश्चय के बाद साधक को यह पूर्ण विश्वास हो जाता है कि अब उसे परमेश्वर का सान्निध्य निश्चित रूप से प्राप्त होगा। साधना के अन्य मार्गों में परमात्मसाक्षात्कार का भले ही ऐसा विधान न हो किन्तु आ० उत्पलदेव ने शिवस्तो० के माध्यम से यह स्पष्ट कर दिया है कि परमेश्वर के शक्तिपात के अनन्तर जीव को तत्त्व का निश्चय होता है।

- -

१- नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः।
स्मेरता धृतिसन्तोषौ बहुमानश्च चात्मनः: सा० द० ३।१६२

२- त्वया निराकृतं सर्वं हेयमेतत्तदेव तु।
त्वन्मयं समुपादेयमित्ययं सारसंग्रहः: शिवस्तो० १२।१२

३- वाचि मनोमतिषु तथा
शरीरचेष्टासु करणरचितासु।
सर्वत्र सर्वदा मे पुरः सरो भवतु भक्तिरसः।।शिवस्तो० ५।२२

च: मिलन और विरह की दोला क्रीडा

शिवस्तो० में जहां एक ओर पूर्वविवेचित अन्यान्य भावों का सुन्दर समावेश हुआ है, वहां दूसरी ओर उसमें परमेश्वर का संयोग एवं वियोग जन्य क्रीडा का सुन्दर अभिव्यक्त हुई है परमेश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्ति-सम्पन्न एवं पूर्ण स्वतन्त्र है वह साधक को अपने स्वातन्त्र्य से कभी तो अपने साक्षात्कार का सुख प्रदान करता है और कभी अपने वियोग से उसे सन्तप्त करता है। समाधि में स्वरूप साक्षात्कार करने वाला साधक जब व्युत्थान की वियोगात्मक स्थिति में तड़प उठता है। क्योंकि एक बार समावेश के संयोगात्मक सुख का अनुभव कर लेने पर वह व्युत्थान में जागतिक व्यवहारों से वितृष्ण हो उठता है। और इसी तड़पन में वह अपने आराध्य परमशिव से कह उठता है।

> ईदृशं न वद परमेश्वरं
> शक्नुवे गणनायितुं तथा च मे।
> यद् मध्यमूर्जानमीदृं वपुः
> स्वं न पातुमनुमन्यसे तथा। (शिवस्तो० १३।१८

प्रस्तुत स्थल में साधक समावेश में तो परमशिव के स्वरूप का साक्षात्कार करता है, किन्तु व्युत्थान में उस समावेशात्मक सुख से वंचित हो जाता है। तभी तो उसे परमेश्वर की इस दोला क्रीडा पर आश्चर्य होता है। किन्तु ऐसा करना परमेश्वर का स्वभाव है। जब उसके अनुग्रह से समावेश में उसके साक्षात्कार का सुख प्राप्त करता है पुनः व्युत्थान में वियुक्त अवस्था में दुःख को भी अनुभव करता है। शिवस्तो० में साधक एक स्थल पर कहता है कि शिवस्तो० में साधक एक स्थल पर कहता है कि हे परमेश्वर भिन्न २ देवताओं (आदि ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, सदाशिव आदि) के सोपान क्रम का उल्लंघन करके प्राप्त करने योग्य जिन चरणों का सहारा लेकर भी मैं व्युत्थान की अत्यन्त नीच अवस्था को नहीं त्यागता अपितु व्युत्थान में मैं

उपसंहार

शिवस्तो० में एक विहंगम दृष्टि डालने पर यह सुस्पष्ट हो जाता है कि आ० उत्पलदेव एक सिद्धहस्त कलाकार थे। उन्होंने अपनी तूलिका से शिवस्तो० में विविध रंगों को सफलता पूर्वक अंकित किया है। शिवस्तो० अपने अन्तस्तल में जहां एक उत्कृष्ट दार्शनिक तत्वों रूप मोतियों को छिपाये हुये है वहीं दूसरी ओर उसमें एक उत्तमकाव्य में होने वाले समस्त गुणों का प्राचुर्य है। यह तथ्य पूर्व विवेचना से प्रमाणित हो चुका है। यहां पर संक्षेप में हम उसके तीन पहलुओं पर विचार करके ग्रन्थ का उपसंहार करेंगे।

१- उत्तम दर्शन

शिवस्तो० के दार्शनिक अध्ययन के प्रसंग में विस्तृत रूप से यह बतलाया जा चुका है कि उसमें उच्च कोटि की दार्शनिकता है। अतः यहां पर उसी बात को दुहराना पुनरुक्ति होगी। किन्तु इस प्रसंग में यह कह देना आवश्यक होगा कि शिवस्तो० एक उच्चकोटि का दार्शनिक ग्रन्थ है। उसमें वर्तमान युग की अपेक्षाओं के अनुरूप आ० उत्पलदेव ने नवीन सुगम सामरस्ययोग, की साधना पद्धति को प्रतिपादित करके जन सामान्य के लिये भी जीवन के परम लक्ष्य, रूप, मोक्ष, का सुगम मार्ग प्रशस्त किया। शिवस्तो० की यह साधना वस्तुतः रागयोग साधना है। इसमें विधि विहित ढंग से स्नान पूजादि की कोई आवश्यकता नहीं। अपने सभी कर्मों को शिवार्पित करता हुआ साधक समावेश में ज्ञानयोग की पराकाष्ठा को सुगमता से प्राप्त कर लेता है। जैसा कि आ० महोदय ने कहा है :-

ज्ञानस्य परमा भूमिर्योगस्य परमा दशा ।
त्वद्भक्तिर्या विभो कर्हि पूर्णा मे स्यात्तदर्पिता ॥ शिवस्तो० १।१८

२- उत्तम काव्य

काव्य प्रकाशकार आचार्य मम्मट ने उत्तम काव्य का लक्षण करते हुये कहा

है कि कवि का वह काव्य सदैव विजय प्राप्त करता है, जो प्रकृति के नियमों से मुक्त होता है। एक मात्र आनन्दमय होता है, किसी अन्यकारण का परतन्त्र नहीं होता, नवरसों से संयुक्त अथवा अलौकिक रस से भरा हुआ एवं अत्यन्त सुन्दर हो।[१] आचार्य मम्मट की इस कसौटी पर शिवस्तो० को कसने पर उसमें उक्त सभी बातें खरी उतरती हैं। शिवस्तो० के प्रत्येक स्तोत्र स्वतन्त्र रूप से डा० उत्पलदेव के अन्तस्तल की अभिव्यक्ति हैं। इन स्तोत्रों के प्रणयन में कवि को किसी प्रकार का प्रयास नहीं करना पड़ा। ये सभी स्तोत्र द्राक्षापिनी की भांति परिपक्व हैं। तथा पाठकों के लिये न केवल लौकिक अपितु पारलौकिक आनन्द की प्राप्ति कराने में पूर्ण सक्षम हैं। शिवस्तो० के पद्यों में रसभावादि भी अपना यथोचित स्थान प्राप्त कर सके हैं।

अतः कह सकते हैं कि शिवस्तो० उच्चकोटि का काव्य ग्रन्थ है, जिसमें अनेकों काव्यतत्त्वों का सुन्दर समावेश हुआ है।

३- उत्तम स्तोत्र

शिवस्तो० प्रधानतया स्तुतिपूरक स्तोत्र ग्रन्थ है। स्तोत्रों का मुख्य प्रतिपाद्य देवस्तुति ही होती है जैसा कि स्तोत्र शब्द की 'स्तूयते अनेन' इस व्याख्या से स्पष्ट है। जिस प्रकार बालक कुछ प्राप्त करने की इच्छा से माता पिता द्वारा ताड़ित होने पर भी उनसे अपने अभीष्ट की याचना करते हैं उसी प्रकार भक्ति का इच्छुक साधक भी अत्यन्त दीन हीन भाव से कष्टों को सहन करते हुये भी परमेश्वर से भक्ति की याचना करते हैं।

१- नियतिकृत नियम रहितां ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
   नवरसरुचिरां निर्मितिमादधती भारतीकवेर्जयति ॥ का०प्र० १।१

शिवस्तोत्रावली में सर्वत्र भगवान शंकर की स्तुति की गई है। उसमें भक्त सदैव पराभक्ति की ही कामना करता है। वह दास्य ,सख्य, प्रेमा इत्यादि अनेकों भावों से उत्कृष्ट कोटि की भक्ति की याचना करता है। वह प्रेम के आवेग में कह उठता है :-

कदा कामपि तां नाथ।
तव वल्लभतामियाम्
यया मां प्रति न क्वापि
युक्तं ते स्यात्पलायितुम् ।। शिवस्तो० ९।७

इस प्रकार शिवस्तोत्रावली में दार्शनिकता, काव्यात्मकिता, एवं उत्तम स्तोत्र के सभी गुण विद्यमान हैं। वह तो एक रत्नाकर है उसकी गहराई में पहुंचने वाला साधक उत्कृष्टतम रत्नों को प्राप्त करके धन्य हो सकता है।

वा०	वामार्थ
शिवसू०वा०	शिवसूत्रवार्तिक
का० प्र०	काव्य प्रकाश
सा० द०	साहित्य दर्पण
ना० शा०	नाट्य शास्त्र
का० शैव दर्शन	काश्मीर शैव दर्शन
ह०यो०प्र०	हठयोग प्रदीपिका
या० स्मृ०	याज्ञवल्क्य स्मृति
मनु०	मनुस्मृति
ब्र० सू० शां० भा०	ब्रह्म सूत्र शांकर भाष्य

चर्पट पंजरिका - (स्तोत्ररत्नावली के अन्तर्गत) गीता प्रेस गोरखपुर सं० २०३३

१६- छान्दोग्योपनिषद(उपनिषद संग्रह) मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, १९७० ,

१- जीवन्मुक्ति विवेक - विद्यारण्य आनन्दाश्रम प्रकाशन, पूना, १९१६

तत्व सन्दोह- काश्मीर सीरीज आफ टैक्स्ट्स एण्ड स्टडीज खण्ड १३, १९१८

तन्त्रालोक- काश्मीर सीरीज आफ टैक्स्ट एण्ड स्टडीज, १९१८

तन्त्रसार काश्मीर सीरीज आफ टैक्स्ट एण्ड स्टडीज खण्ड ७, १९१६

तत्त्वदीप - निर्णय सागर बम्बई

ध्वन्यालोक- आनन्दवर्धन चौखम्बा संस्कृत सीरीज

निरुक्त- यास्क- भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट पूना, १९४०

नैष्कर्म्य सिद्धि - बम्बई, १९२५

न्याय भाष्य- वाराणसी सम्वत २०२३

न्यायमञ्जरी- जयन्तभट्ट चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी ।

नाट्यशास्त्र, भरतमुनि, गायकवाड ओरियन्टल सीरीज बडौदा, १९५४

परमार्थसार- अभिनवगुप्त, काश्मीर सीरीज आफ टैक्स्ट एण्ड स्टडीज, १९१६

प्रत्यभिज्ञा हृदय, - मोती लाल बनारसीदास दिल्ली १९६३

परात्रिंशिका विवरण- श्री म्हार, काश्मीर सीरीज आफ टैक्स्ट एण्ड स्टडीज १९१८

पंचदशी- [illegible] सम्वत २०११

ब्रह्म ज्ञानावलीमाला-

व्योमवती

ब्रह्मसिद्धि- मण्डनमिश्र गवर्नमेन्ट ओरियन्टल मैनुस्क्रिप्ट लाइब्रेरी मद्रास १९६३

बृहत्स्तोत्ररत्नाकर- पं० राम तेज पाण्डेय द्वारा सम्पादित , पण्डित पुस्तकालय काशी वाराणसी २०२३

ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य- निर्णय सागर बम्बई १९३४

भक्तिरसामृतसिन्धु- दिल्ली विश्व विद्यालय दिल्ली प्रथम संस्क० १९६३

भक्ति रसायन- मधुसूदन, अच्युत ग्रन्थमाला १९३४

भागवत महापुराण(मूल) , गीता प्रेस गोरखपुर, स० २०१८

भास्करी- (अभिनवगुप्त की व्याख्या सहित) खण्ड १एवं २ लखनऊ।

भारतीय दर्शन की रूपरेखा - एम० हिरियन्ना, अनुवादक डॉ गोवर्धनभट्ट राजकमल प्रकाशन दिल्ली, १९७३

भारतीय दर्शन- डा० राधाकृष्णन्

महानिर्वाण तन्त्र -

माण्डूक्य कारिका- गौडपादाचार्य गीताप्रेस गोरखपुर ।

मनुस्मृति - चौखम्बा संस्कृत सीरीज वाराणसी ,१९५२

मालिनी विजय वार्तिक अभिनवगुप्त, काश्मीर सीरीज आफ टेक्सट्स एण्ड स्टडीज खण्ड ३१, १९२१

मेघदूत- कालिदास चौखम्बा, वाराणसी १९६१ ,

मुकुन्दमाला-

योगसूत्र डॉ० सुरेश चन्द्र श्रीवास्तव की व्याख्या सहित, संवित प्रकाशन इला० १९७३

याज्ञवल्क्यस्मृति (उपनिषद संग्रह) मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली १९७०

योगियाज्ञवल्क्य ,, ,, ,,

योगचूडामण्युपनिषद - ,, ,, ,,

रिलीजन आफ द वेद - ब्लूमफील्ड

स्पन्द वृत्ति (रामकण्ठ) काश्मीर सीरीज आफ टैक्सट्स एन्ड स्टडी
६ खण्ड १९१३

स्पन्द कारिका - काश्मीर सीरीज आफ टैक्स एन्ड स्टडीज, १९१३

सांख्य तत्व कौमुदी प्रभा- डा० आद्या प्रसाद मिश्र सत्य प्रकाशन, इलाहाबाद

सर्व दर्शन संग्रह- चौखम्बा वाराणसी १९६४,

सारिका भाष्य- शंकर्स कमेन्ट्री आन द ब्रह्मसूत्र

सिद्धान्त लेश संग्रह - अप्पय दीक्षित, अच्युतग्रन्थमाला, काशिका वाराणसी
१९७१

संक्षेप शारीरक- सर्वज्ञात्मा, सरस्वती भवन टैक्सट्स, इलाहाबाद १९३६,३०,३

सिद्धान्त मुक्तावली निर्णयसागर प्रेस बम्बई, सम्वत् १९७९

सूरसारावली

सूरसागर- नागरी प्रचारिणी सभा सम्वत् २२२५

सूरसंचयन

श्री भाष्य- श्री भद्वेदान्त दैशिक विहार सभा १९५८

साहित्य दर्पण: विश्वनाथ, चौखम्बा वाराणसी।

स्तुतिकुसुमाञ्जलि- जगद्धर निर्णय सागर प्रेस बम्बई, १८९१

संस्कृत साहित्य का इतिहास - वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा वाराणसी, १९६०

संस्कृत साहित्य का इतिहास- बलदेव उपाध्याय शारदा मन्दिर वाराणसी
१९७३।

स्तोत्ररत्नावली - गीताप्रेस गोरखपुर।

संस्कृते पंचदेवतास्तोत्राणि सुरेन्द्रनारायण त्रिपाठी
सन्मार्ग प्रकाशन दिल्ली, १९७५